सन्त-वाणी

भाग ४

(केसेट सं० १३ से २२)

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन

सन्त–वाणी

भाग–४

मानव-सेवा-संघ प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा) उ० प्र०

प्रकाशक :
मानव-सेवा-संघ,
वृन्दावन (मथुरा)
पिन-२८११२१

●

●

प्रथम बार—५,०००

●

मूल्य : ४ = ०० (चार रुपये)

●

भारत सरकार से प्राप्त रियायती कागज पर मुद्रित

●

मुद्रक :
राष्ट्रीय प्रेस,
डैम्पियर नगर, मथुरा

श्रद्धेय पद्मभूषण डा० बी०एन० टन्डन
को
सादर सप्रेम समर्पित,

दिनेश कुमार सिंह
पटना.
१८.६.८६.

सन्त-वाणी

भाग—४

-: निवेदन :-

१. सन्त अमर हैं। उनकी वाणी अमर है।

२. इस वाणी के आदर में सत्य का आदर है।

३. इस वाणी के आदर में जीवन का आदर है।

४. इस वाणी के आदर में संत का आदर है।

५. इस वाणी के आदर में संघ का आदर है।

—मानव-सेवा-संघ

अनुक्रमणिका

—★—

॥ ॐ ॥

प्रार्थना

[प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है]

मेरे नाथ,
आप अपनी
सुधामयी,
सर्वसमर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दुखी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल,
एवम्
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दु:ख के
बन्धन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर,
कृतकृत्य हो जायं

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

भूमिका

श्री महाराज जी के द्वारा अमूर्त सत्य को मूर्त शब्दों में प्रकाशित करने की लीला का संवरण हो चुकने के बाद, संत-प्रेमी, संघप्रेमी, और सत्संग प्रेमी भाई-बहनों में यह संकल्प जोर पकड़ने लगा कि संतवाणी को सुरक्षित एवं सुलभ बनाये रखने का प्रयास होना चाहिए। श्री स्वामी जी महाराज जब तक सशरीर विद्यमान थे, कुछ प्रेमी जनों ने उनकी विशेष स्वीकृति लेकर उनके कुछ प्रवचनों को टेप में रिकार्ड कर लिया था। विशेष स्वीकृति लेने का अर्थ यह है कि सामान्यत: प्रवचनों को टेप रिकार्डिग करके रखना श्री महाराज जी ने साधकों के लिए विशेष हितकर नहीं माना था। प्रेमीजनों के विशेष आग्रह पर कभी-कभी स्वीकृति दे देते थे। ऐसी दशा में उनके प्रवचनों की Arranged Recording कभी नहीं हो सकी। जब जैसा बन पड़ा Record कर लिया गया। उनके ब्रह्मलीन हो जाने के बाद उनके ही स्वर में जीवनोपयोगी अनमोल बचनों को सुनकर जीवनदायी प्रेरणा लेने के लिए उनके चुने हुए टेप रिकार्डेड प्रवचनों के Cassetts तैयार कराये गये। प्रथम बार बारह कैसेटस का प्रथम सैट तैयार हुआ। श्री महाराज जी की अमृत-वाणी का यह सैट सत्संग प्रेमियों के द्वारा बहुत पसन्द किया गया। साधकों के साधनयुक्त जीबन के निर्माण का यह एक आधार बन गया। संघ की शाखाओं द्वारा संचालित सत्संग की बैठकों में श्री महाराज जी के वचनों से सजीवता आ गयी। मानव-जीवन पर प्रयुक्त गूढ़ दार्शनिक तथ्यों की सरल अभि-व्यक्ति श्री महाराज जी की ही प्रेम-पूर्ण सशक्त ध्वनि में सुनकर प्रेमीजनों के हृद्तंत्री के तार स्पन्दित हो उठते हैं। यह तथ्य

आज श्री महाराज जी के साकार विग्रह के लुप्त हो जाने की स्थिति में अत्यधिक अलभ्य उपलब्धि मालुम हो रही है।

जिस समय रिकार्डेड प्रवचनों के कैसेट्स् बनाये जा रहे थे उस समय यह विचार भी आया कि कैसेट्स् में जो वचन हैं वे इतने गूढ हैं कि उनका अध्ययन, मनन, पठन, पाठन, बारम्बार करते रहने पर ही उनको हृदयंगम किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जो सत्संग-प्रेमी टेप रिकार्डिंग मशीन तथा कैसेट्स् अपने पास नहीं रख पायेंगे उनके लिए भी ये अनमोल प्रवचन सुलभ होने चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पूरे सैट के प्रवचनों को पुस्तकाकार प्रकाशित किया जा रहा है। सन्तवाणी भाग २ (दो) में प्रथम सैट के कैसेट्स् संख्या १ से ६ तक के प्रवचन तथा सतवाणी भाग ३ (तीन) में प्रथम सैट के कैसेट्स् संख्या ७ से १२ तक के प्रवचन प्रकाशित किये जा चुके हैं। प्रस्तुत सग्रह सन्तवाणी भाग ४ (चार) में द्वितीय सैट के कैसेट्स् संख्या १३ से २२ तक के प्रवचन प्रकाशित किये जारहे हैं। सन्तवाणी माला का यह चौथा पुष्प आपकी सेवा में प्रस्तुत है। इस संग्रह में प्रत्येक प्रवचन बिल्कुल कैसेट में भरे हुए प्रवचन के अनुरूप हैं। कैसेट्स् सुनते समय भी जिन-जिन वाक्यों पर आप विशेष रूप से विचार करना, अध्ययन तथा मनन करना चाहें, उन वाक्यों को इस संग्रह में रेखांकित करके सरलता से कर सकते हैं। सत्संग प्रेमी भाई-बहनों की सेवा में सप्रेम समर्पित सन्तवाणी माला का चौथा पुष्प सब प्रकार से आपके लिए हितकारी हो, इसी सद्भावना के साथ—

विनीता :

देवकी

वृन्दावन

२-७-८५

१३

जीवन की सबसे आखिरी चर्चा है ईश्वर की चर्चा ।

निर्मम, अचाह, असंग होकर स्वाधीन हो जाना आध्यात्मवाद है ।

जो बिना परिश्रम के अपने में प्राप्त हो जाय, उसी का नाम परमात्मा है ।

एक समय में व्यक्ति में इच्छायें दो नहीं रहतीं, एक ही रहती है । प्रभु की मांग हो जाय तो और सब कामनायें मिट जाती हैं । बड़ा भारी सत्य है ।

कर्म का फल भविष्य में होता है ।

ईश्वर को मानने का फल वर्तमान में होता है ।

अगर शरीर को ढूंढोगे तो संसार में पाओगे ।

अपनी खोज करोगे तो परमात्मा में पाओगे ।

बल के द्वारा संसार की सेवा होती है ।
ज्ञान के द्वारा मुक्ति मिलती है ।
विश्वास के द्वारा परमात्मा का प्रेम मिलता है ।

परिचय :

जीवन के अध्ययन के क्रम में, साधन-निर्माण काल में, जीवन भर मूल-भूत सत्य के प्रयोग में, एक चित्र उभड़कर स्पष्ट हुआ है, स्पष्टतर होता जा रहा है—वह यह कि अपनी ही भूलों के परिणाम से दुःखों के जाल में गुंथी हुई दशा, और अपने ही पुरुषार्थ से दिव्य-चिन्मय-रसरूप अस्तित्व से अभिन्नता का परमानन्द—एक ही अहम् के दो रूप हैं। एक असत् के संग-जनित दोष से उत्पन्न हुआ बड़ा ही कष्टदायक एवं अप्रिय है - दूसरा सत् के संग से अभिव्यक्त अनन्त, असीम आनन्दमय है। दोनों में बड़ा अन्तर है।

फिर भी, महान् आश्चर्य है कि बनने-बिगड़ने वाली दशा की उत्पत्ति एवं चिरन्तन सत्य की अभिव्यक्ति जिसमें होती है वह केन्द्र बिन्दु एक ही है। वह है व्यक्ति का व्यक्तित्व।

एक ओर सुख-दुःख, जन्म-मरण, हर्ष-विषाद, मान-अपमान, संयोग-वियोग आदि द्वन्द्व की पीड़ा है। दूसरी ओर इन सबसे मुक्त अलौकिक, अविनाशी, आनन्दमय अस्तित्व है जिसमें रस ही रस है, अभाव नहीं है, पराधीनता नहीं है, प्रत्युत असीम

शान्ति, पूर्ण स्वाधीनता और परम प्रेम है। उस अलौकिकता के अनुभव का वर्णन करते नहीं बनता है। वह अनिर्वचनीय है।

दशायें उत्पन्न होती हैं, अतः मिट जाती हैं। नित्य जीवन विद्यमान है, अतः प्रगट हो जाता है। एक ही व्यक्ति असाधन काल में यह कहता है कि 'मैं बहुत दुःखी हूँ, पराधीन हूँ, असमर्थ हूँ' और भ्रम निवारण के बाद वही अनुभव करता है कि 'मैं आनन्द में हूँ।' दशाओं का मिट जाना और जीवन की अभि-व्यक्ति, इतनी शीघ्रता से होता है कि समय का पता भी नहीं चलता। अनुभवी संत की वाणी में हमने सुना है कि सत्य की अभिव्यक्ति में काल-अपेक्षित नहीं है। यह बात प्रत्यक्ष है, अनुभव गम्य है, आश्चर्य-जनक है; फिर भी सत्य है। इसी में मानव जीवन की सार्थकता है। इसी उपलब्धि के लिये जीवन मिला है।

एक बार अपने इस वास्तविक अलौकिक जीवन का अनुभव पा लेने के बाद उत्पत्ति, परिवर्तन, और विनाश वाली दशाओं का कोई विशेष अर्थ नहीं रह जाता। ऐसा लगता है कि बहुत ही भयंकर कष्टदायक स्वप्न देखने वाले कष्ट से पीड़ित, भयभीत एवं व्याकुल व्यक्ति की आंख खुल गई हो—नींद से जैसे वह जग गया हो—स्वप्नजनित सारे दुःखों को अपना ही भ्रम जानकर कष्ट-मुक्त और आनन्दित हो गया हो।

दृश्य के संयोग-जनित उत्पीड़न का दुःख-भार ढोना कोरा भ्रम है, केवल भूल-जनित दशा है। फिर भी हम बिचारे उसमें बुरी तरह से उलझे हुए, कराहते हुए उसी को सुलझाने के विफल प्रयास में समय काटते रहते हैं। और अपना ही

सच्चिदानन्द स्वरूप जो वास्तविकता है, नित्य निरन्तर विद्यमान है, सभी का है, सभी के लिये है, अनन्त सामर्थ्य, आनन्द एवं रस-मय जीवन का स्रोत है, उस पर हमारी दृष्टि नहीं जाती। जिस जीवन के हम जन्म-सिद्ध अधिकारी हैं, उससे निराश रहते हैं, अपने को उसके लिये अनाधिकारी मानते हैं। यह बड़ी विडम्बना है। जिस पर अपनी सत्ता आधारित है, उसके प्रभाव से अपने को विमुख रखना और जिसकी त्रिकाल में भी सत्ता सिद्ध नहीं होती, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है ही नहीं, उसमें जीवन-बुद्धि स्वीकार करके सुख-दुःख के भोगी बने रहना—भीतरी और बाहरी दुःख-द्वन्द्व का हेतु है।

अहम् रूपी अणु की अर्थात् 'मैं' की विलक्षणता यह है कि जब चाहे तब 'नहीं' में से जीवन-बुद्धि को अस्वीकार कर दे अर्थात् अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग कर दे और वास्तविक जीवन की शान्ति, स्वाधीनता तथा परम प्रेम के आनन्द में मस्त हो जाय। ऐसा होता है। यह बहुत बढ़िया बात है।

तत्वज्ञान एवं प्रभु प्रेम के रस से अभिन्न अहम्शून्य सन्तों एवं भक्तों का हमारे बीच उपस्थित होना, निर्मल प्रेम की अभिव्यक्ति के द्वारा नित्य-जीवन की झलक दिखा कर, हमें उसकी याद दिलाना, भव-रोगों की यन्त्रणा से परित्राण के लिये पुरुषार्थ करने का प्रोत्साहन देना, सृष्टि के मंगलमय विधान के मंगलकारी विधायक की मंगलमयी योजना है।

इसी योजना की शृङ्खला में एक नई कड़ी जोड़ने आये थे—ब्रह्मलीन, प्रज्ञाचक्षु, परम पूज्य स्वामी शरणानन्द जी महाराज-

ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित, प्रभु-प्रेम के रस से पूरित, पर-हित की भावना से द्रवित होकर– दुःख-निवृत्ति, चिर शान्ति, जीवन-मुक्ति एवं भगवत्-भक्ति की चर्चा जो इनके द्वारा हुई है, वह मानव-मात्र के लिये क्रान्तिकारी अमर सन्देश है। उनके वचनों में मौलिकता है। इनकी युक्तियाँ अकाट्य हैं, प्रस्तुतिकरण अनूठा है और इनके हृदय में साधक-मात्र के कल्याण की कोमल भावना है।

इनके प्रवचनों को सुनकर आप स्वयं ही अनुभव करेंगे कि कैसा भागीरथ प्रयास इन्होंने किया है—इस बात के लिये कि जीवन की उच्चतम उपलब्धि जो प्रेम तत्व की अभिव्यक्ति है उसका आनन्द मानव-मात्र को मिल जाय—

इनके अनुभव सिद्ध वचन बड़े ही जोरदार है। कर्म प्रधान, विचार प्रधान और भाव प्रधान—सब प्रकार के साधकों को सिद्धि दिलाने वाले हैं, रूढ़िगत जड़ता से साधकों को मुक्त कराने वाले हैं, निराशा के अंधकार में जीवन-ज्योति जगाने वाले हैं, असमर्थों को सर्व सामर्थ्यवान का अटूट सहारा देने वाले हैं—

आज उनके साकार विग्रह के लुप्त हो जाने के बाद भी उनके अमृत-वचन से हमें प्रेरणा मिलती रहे, इसी उद्देश्य से सन्तवाणी संरक्षण का कार्य हो रहा है। उनके एक प्रवचन के कुछ अंश प्रस्तुत कर रही हूँ :—

'भौतिकवाद की दृष्टि से जीवन के विकास के लिये यह व्रत लेना चाहिये कि हम पर सबका अधिकार है और हमारा किसी पर अधिकार नहीं है। दूसरों का अधिकार देने से राग का

नाश होता है और अपना अधिकार छोड़ने से क्रोध का नाश होता है। राग का नाश होने से योग प्राप्त होता है। क्रोध का नाश होने से स्मृति प्राप्त होती है--कर्त्तव्य की, निजस्वरूप की, और प्रभु की—बहुत बड़ी बात है। बड़ा भारी विकास है। भौतिकवाद मानव जीवन का अनिवार्य पहलू है। इसका भी एक दार्शनिक सत्य है। यह मनुष्य को बुराई की प्रेरणा नहीं देता—प्रत्युत राग और क्रोध से रहित होने की प्रेरणा देता है।

अध्यात्मवाद की दृष्टि से निर्मम, निष्काम और असंग होकर स्वाधीन जीवन से अभिन्नता होती है। मेरा कुछ नहीं है; मुझे कुछ नहीं चाहिये। इन दो बातों को मानकर हम स्वाधीन हो सकते हैं। किसी प्रकार की पराधीनता शेष न रहे तो यह आध्यात्मिक विकास कहलाता है। शरीर के रहते हुए जीवन-मुक्ति का आनन्द आता है।

परमात्मा अपना है, अपने में है, अभी है, एक ही है, अद्वितीय है और समर्थ है। यह जिसकी महिमा है, उसी को परमात्मा कहते हैं। यह गुरुवाणी, वेदवाणी या शास्त्रवाणी है। अब आप विचार करें कि इस वाणी का अपने ऊपर प्रभाव क्या है ? अपना होने से परमात्मा प्यारा लगना चाहिये। अभी होने से मिला हुआ होना चाहिये। अपने में होने से नित्य-प्राप्त होना चाहिये। अपने को उनके प्रेम-तत्व से अभिन्न होने की आनन्दमयी अनुभूति होनी चाहिये। यह ईश्वरवाद की साधना की पूर्णता है।

ईश्वरीय प्रेम से अभिन्न होने में बड़ी भारी बाधा यह है कि हम उनके आत्मीय सम्बन्ध को सजीवता से मानते नहीं हैं।

सोचो तो सही—परमात्मा अभी है—तो क्या मरने के बाद मिलेंगे ? कि कुछ दिन ध्यान करने के बाद मिलेंगे कि आँख बन्द करने और सांस रोकने से मिलेंगे ? ऐसी बात नहीं है भाई !—इस बात को मान ही लो कि अभी हैं तो अभी मिलेंगे—अपने हैं तो प्यारे लगेंगे ही—अपने में हैं तो तलाश करने बाहर नहीं जाना पड़ेगा। जो बिना परिश्रम के मिलता है, उसी का नाम परमात्मा है। परिश्रम करने में सब व्यक्ति बराबर नहीं हो सकते परन्तु परमात्मा को अपना मानने में सब बराबर हो सकते हैं। अतः परमात्मा सभी को मिल सकते हैं। यह बात आप में दृढ़ हो जाय तो परमात्मा से मिलने की उत्कण्ठा तीव्र हो जायेगी। जब परमात्मा की मांग सबल हो जाती है तो और कोई कामना शेष नहीं रहती है। जब कामनायें समाप्त हो जाती हैं तब संसार से सम्बन्ध टूट जाता है। तब पराधीनता, अशान्ति, विषमता और दुःख सब मिट जाता है।

परमात्मा हमको अपना करके जानते हैं। हमें उनको अपना मानना है। जो हमें अपना करके जानते ही हैं, वे हमें मिलने से इन्कार नहीं करेंगे। अवश्य मिलेंगे। इस बात में लेशमात्र भी सन्देह नहीं करना चाहिये।

जब आप निस्सन्देह होजाइयेगा तब परमात्मा के प्रेमी होने का प्रश्न वर्तमान का प्रश्न हो जायेगा।

दुनियां की जितनी चीजों को आप पसन्द करते हैं, उनके लिये भविष्य की प्रतीक्षा रहती है। जैसे एक फलदार वृक्ष लगाओ तो उसमें फल लगेंगे भविष्य में। कर्म का फल भविष्य में होता है। परन्तु प्रभु मिलन की बात वर्तमान की बात है।

चूंकि परमात्मा अपने में हैं, इसलिये उनकी प्राप्ति में श्रम तथा काल की अपेक्षा नहीं रहती।

यदि आप अपने को देखें तो आपको अपने में परमात्मा के सिवाय और कुछ नहीं मिलेगा। शरीर का विश्लेषण करें तो शरीर में संसार की ही वस्तु मिलेगी और कुछ नहीं मिलेगा। शरीर विज्ञान के ज्ञाता डाक्टर कहेंगे कि रक्त में लोहा कम हो गया अथवा शक्कर अधिक हो गया। इससे अमुक रोग हो गया। लोहा और शक्कर संसार की चीजें हैं जो शरीर में पाई जाती हैं। इस दृष्टि से शरीर में संसार ही मिलेगा और कुछ नहीं मिलेगा।

बहुत ध्यान देने की बात है कि शरीर में संसार ही है, शरीर के बाहर चमक है तो भीतर भी है। यह सब संसार ही है। शरीर और संसार कभी अलग हो सकते नहीं।

लेकिन अपने में आप खोजेंगे तो संसार नहीं मिलेगा, परमात्मा मिलेगा। आप और परमात्मा अलग नहीं हो सकते।

हाँ, यह दूसरी बात है कि अपनी भूल से आप संसार को पसन्द कर लें और उसकी कामना और ममता को अपने में रख लें। तब आपको अपने में संसार की ममता और कामना भले ही दिखाई दे परन्तु आपके भीतर संसार नहीं मिलेगा। 'मैं' के भीतर संसार कहाँ घुस सकता है ? कदापि नहीं।

इस तथ्य के आधार पर आप परमात्मा को अपना मानें तो उनकी आत्मीयता से उदित प्रियता आजायेंगी—बड़ी बढ़िया बात है कि आप अपनी खोज करेंगे तो अपने को

परमात्मा में पायेंगे और शरीर की खोज करेंगे तो उसे संसार में पायेंगे। जैसे शरीर का संसार से अविभाज्य सम्बन्ध है, वैसे 'मैं' का परमात्मा से अविभाज्य सम्बन्ध है। हम अपनी भूल से संसार से सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, वही पर्दा मालूम होता है—हमारे और परमात्मा के बीच में—यदि हम संसार से सम्बन्ध तोड़ लें तो अपने में परमात्मा को पा जायेंगे।

परमात्मा अपने हैं, यह बात वाणी से भी कह सकते हो, मन से भी कह सकते हो। अच्छा ! मन और वाणी को छोड़ दो, तो अपने द्वारा यह बात मान भी सकते हो। 'मेरे नाथ ! मेरे नाथ !!'—वाणी से भी कह सकते हो। अब सोचो, मन और वाणी से कहा हुआ बन्द हो सकता है, परन्तु अपने द्वारा माना हुआ कभी मिट नहीं सकता। सत्य की स्वीकृति सत्य के समान ही अमिट है। परमात्मा को अपना मानने में विश्वास हेतु है और संसार से असंग होने में ज्ञान हेतु है। और संसार की सेवा में बल हेतु है। परमात्मा को अपना मानने में शारीरिक बल हेतु नहीं है। शारीरिक बल से परमात्मा मिलेगा तो उसका मूल्य रोटी, वस्त्र, दवाई से अधिक नहीं होगा— क्योंकि बल के द्वारा ये ही वस्तुएँ मिलती हैं संसार में। अतः ईश्वर-विश्वास शरीर धर्म नहीं है, स्वधर्म है। ज्ञान के द्वारा आप मुक्त हो जाइये, विश्वास के द्वारा आप भक्त हो जाइये। इसमें आपकी स्वाधीनता है। यह जीवन का सत्य है। यह कल्पना नहीं है। केवल कहने-सुनने की बात नहीं है। यह अनुभूत सत्य है।

विश्वास पंथ के साधक बड़े दुःख के साथ यह कहते हैं कि क्या बतायें—भगवान् में मेरा मन नहीं लगता है। सोचो तो सही मन कहाँ लगता है ? तो आप कहेंगे कि संसार में लगता

है। कैसी दयनीय दशा है ? संसार से हटाना चाहते हैं तो हटा नहीं सकते और भगवान् में लगाना चाहते हैं तो लगा नहीं सकते। इसमें एक रहस्य है—जिसको आप पसन्द कर लेते हैं उसमें से मन हटता नहीं है। जिसको आप नापसन्द कर देते हैं, उसमें मन लगता नहीं है। संसार को नापसन्द कर दो तो उसमें से मन हट जायेगा। परमात्मा को पसन्द कर लो तो उसमें मन लग जायेगा। परमात्मा को पसन्द कर लेने से आप भक्त हो जायेंगे। अतः परमात्मा को पसन्द करना बड़े महत्व की बात है। विचार करो ऐसी कोई वस्तु, कोई व्यक्ति है क्या जो हर समय, हर परिस्थिति में, हर संकट में तुम्हारे काम आये ? स्पष्ट है कि संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है। अतः संसार से हमारा नित्य-सम्बन्ध नहीं हो सकता।

नित्य-सम्बन्ध उन्हीं से हो सकता है, जो कभी हमसे अलग न हों और सदैव हमारे काम आ सकें। ऐसा कोई एक है जरूर। परन्तु वह दुनियां के समान उत्पत्ति-विनाश युक्त नहीं है। वह अनुत्पन्न अविनाशी है। उसी से अपना नित्य-सम्बन्ध है। इस सत्य में विश्वास करने लगो तो उसमें प्यार हो जायेगा। परमात्मा को प्यार करने से, उनकी याद आने लगती है। उनकी स्मृति जागृत होने पर दुनियाँ की विस्मृति हो जाती है। ऐसा नहीं हो सकता कि परमात्मा भी प्यारा लगे और दुनियां भी बनी रहे। ऐसा नहीं हो सकता। परमात्मा सब कुछ कर सकते हैं। अगर आप उनसे विश्वास मांगें तो वे विश्वास दे सकते हैं, प्यार मांगें तो प्यार भी दे सकते हैं। विश्वास करना और विश्वास मांगना, प्यार करना और प्यार मांगना—इनमें कोई

खास अन्तर नहीं है। अगर हम और आप परमात्मा में विश्वास करेंगे, उनको प्यार करेंगे तो वे मिल ही जायेंगे। परमात्मा से मिलने के लिये मैंने कभी नहीं कहा कि भूखे रहो, नंगे रहो, तपस्या करो, बन में जाओ, इतना जप करो, इतना तप करो— ये कुछ नहीं कहा। यह सब तो दम्भ पूर्वक भी हो सकता है। परन्तु असली बात जो है वह विश्वास करने का है, वह अपने द्वारा किया जाता है।

हाँ, किसी ईश्वर विश्वासी की बात मान कर भी विश्वास किया जाता है। इस तरह से मानना भी आप ही के हाथ की बात हो गई। अतः विश्वास करने में कोई बाधा नहीं है। मीरा जी ने विश्वास किया। ईसा ने विश्वास किया। मुहम्मद ने विश्वास किया। गुरु नानक देव ने विश्वास किया। उनका विश्वास और वे कभी अलग नहीं हुए। उन सबको सफलता मिली। ज्ञान और विश्वास कभी विफल नहीं होते। हमेशा ही सफल होते हैं। ईसा के अन्तिम उद्गार क्या थे? "मैं और मेरा बाप एक है।" मीरा के अन्तिम शब्द क्या थे?— "मिल बिछुड़न नहीं कीजै"। आप मिल गये हैं, बिछुड़िये मत। अनन्त परमात्मा से अनन्त मिलन का अनुभव जीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि है। यह सबसे ऊँची बात है। अब अपनी ओर देखिये—अगर आपको ऐसा लगता है कि आप में विकल्प-रहित विश्वास की कमी है तो दूसरे नम्बर की बात है कि आप ईश्वर-विश्वासी थोड़ी-थोड़ी देर बाद बिना वाणी के, मूक भाषा में, प्रभु से मांगिये कि अपना विश्वास दे दो। फिर देखिये, विश्वास मिल जायेगा। प्रेम मिल जायेगा।

मेरा तात्पर्य यह है कि आपकी निराशा आशा में बदल जाय। परमात्मा से मिलने में किसी को कभी भी निराश होने की बात नहीं है। आप उनका विश्वास उनसे मांगेंगे तो विश्वास मिल ही जायेगा और विश्वास मिल जायेगा तो वे स्वयं भी मिल जायेंगे। विश्वास आने का तरीका है–विश्वास की जरूरत महसूस करना। आप जरूरत महसूस करेंगे तो बिश्वास मिल ही जायेगा और प्रभु-विश्वास प्रभु प्राप्ति का अचूक उपाय है। जो परमात्मा को मान लेता है उसको परमात्मा अवश्य ही अपना लेते हैं।'

निवेदिका,

देवकी

जब साधक साधन-तत्व से अभिन्न हो जाय तब समझना चाहिये कि साधन का निर्माण हो गया। उसकी कसौटी है कि कितना समय आपको विश्राम मिलता है।

मानव सेवा संघ की साधना-प्रणाली प्रत्येक साधक को विकसित करती है—जैसे भूमि प्रत्येक पौधे को पोषण देती है। विरोध किसी का नहीं है।

विश्राम सम्पादन के लिए चित्त को उसमें लगाओ जहाँ से हटे नहीं और उससे हटाओ जहां लगे नहीं। अपने स्वभाव को मन पर आरोप करने से उसमें दोष दिखायी देते हैं। अपने स्वभाव का आरोप हटा लेने से मन की स्वाभाविक निर्विकारता सुरक्षित हो जाती है। विश्राम मिलता है।

जिस प्रकार सूर्य का उदय और अंधकार का नाश युग-पद है, उसी प्रकार असत् का त्याग, सत् का संग, साधन की अभिव्यक्ति और सिद्धि युग-पद हैं। विश्राम सम्पादन का नाम है—मूक-सत्संग, मूक-सत्संग का अर्थ है चिन्तन और अचिन्तता दोनों से असंग।

निवृत्ति का अर्थ है "वृत्ति का स्फुरण न होना।" यह योग है, नित्य-योग सामर्थ्य का, बोध जीवन का और प्रेम रस का प्रतीक है।

जो सुख से असंग नहीं हो सकता वह दुःख से भी असंग नहीं हो सकता। सुख आये तो उसका भोग करें और दुःख आवे तो उससे असंग हो जायँ, ऐसा कभी हो नहीं सकता। मूक-सत्संग का आरम्भ होता है इन्द्रियों की विषय-विमुखता, मन की निर्विकल्पता एवं बुद्धि की समता से। इसकी पूर्णता होती है शान्ति और समाधि से असंग रह कर स्वाधीनता में सन्तुष्ट न होने से।

विश्राम का एक और उपाय है—शरणागति। अर्थात् नित्य-मुक्त को रस देने की नित-नव-लालसा, यह शरणागत की मुक्ति और भक्ति है।

(अ)

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव !

सच बात तो यह है कि जब तक साधक अपने जाने हुए असत् का त्याग नहीं कर सकता तब तक न तो सत् का ही संग हो सकता है और न साधन की ही अभिव्यक्ति हो पाती है। होता क्या है ? ऊपर से साधन सीख-सीख कर साधन का एक स्वांग करते रहते हैं। सच मानिये, साधन उसका नाम नहीं है जिसको आपने बाहर से भरा है। साधन का असली अर्थ ही यह है कि जिसकी अभिव्यक्ति साधक में से हो। और वह साधन साधक को साधन-तत्व से अभिन्न करने में समर्थ हो जाय। इसका नाम है साधन निर्माण। यह साधन निर्माण सत्संग के बिना किसी प्रकार हो नहीं सकता। आप लोग सोचते होंगे कि हम ग्रन्थों से, सन्तों से बहुत-सी बातें सीख लेंगे, रिकौर्ड कर लेंगे, छपवा देंगे और हम साधननिष्ठ हो जायेंगे। मुझे इसमें हमेशा सन्देह रहता है। साधननिष्ठ तो नहीं हो जायेंगे पर साधन के संग्रही अवश्य हो जायेंगे। और दूसरों की दृष्टि में इतने समझदार बन जायेंगे, इतने बुद्धिमान कहलायेंगे कि दूसरे लोग यह समझेंगे कि ये बहुत कुछ जानते हैं किन्तु साधन का जो रहस्य है उससे बिमुख रहेंगे। इसलिये भाई, साधक के जीवन का मौलिक प्रश्न यह है कि हम और आप अपने जाने हुए असत् का त्याग करें। आप विचार कीजिये

और गम्भीरता से विचार कीजिये कि यह प्रश्न कि हमारा चित्त सदा के लिये लग जाय जिसमें लगना चाहिये और सदा के लिये हट जाय जिससे हटना चाहिये किस साधक का नहीं है? प्रत्येक साधक का है लेकिन कितने साधक हैं जो ईमानदारी से यह कह सकें कि हमारा यह प्रश्न हल हो गया। जरा विचार तो करो, क्यों हल नहीं हुआ? क्या हमारा भाग्य ऐसा है कि प्रश्न हल नहीं होगा? ऐसी बात नहीं है। क्या कोई वस्तु विशेष हमें प्राप्त नहीं है इसलिये प्रश्न हल नहीं हुआ? ऐसी बात नहीं है। क्या कोई परिस्थिति विशेष नहीं है इसलिये ऐसा नहीं हुआ? ऐसी बात भी नहीं है। क्या किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा होगा? ऐसी बात भी नहीं है। यह साधन तब सिद्ध होगा जब हम सब अपनी-अपनी दृष्टि में इतने ईमानदार हो जायँ कि जाने हुए असत् से सम्बन्ध न रहे। असत् न रहे, यह आपके वश की बात नहीं है। हाँ! उसमें विश्वास न रहे, उससे सम्बन्ध न रहे, उसकी कामना न रहे। यह आपके वश की बात है।

तो आज हमें और आपको इस समस्या पर विचार करना है कि भाई, जिसे आप स्वयं असत् कहते हैं, जरा सोचिये तो सही, उस असत् की कहीं कामना तो जीवन में नहीं है? उस असत् की कहीं ममता तो जीवन में नहीं है? उस असत् का कहीं दुरुपयोग तो जीवन में नहीं है? ये तीन बातें देखिये। जिसे आप असत् कहते हैं उसका दुरुपयोग, उसकी ममता, उसकी कामना यदि जीवन में है तब सत् का संग हो ही नहीं सकता और सत् का संग हुए बिना साधन की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। अब इसका पता कैसे चले? इसका सीधा सादा पता चलाने का तरीका है कि आप कितनी देर ईमानदारी से विश्राम कर सकते हैं। कुछ लोग आपसे कहेंगे कि कितना काम कर

सकते हैं। पर शरणानन्द फिलौसोफी में इस बात का कोई महत्व नहीं है। आपको कितनी देर विश्राम मिलता है, इसका जरा पता तो लगाइए। अधिकतर देखने में तो यह आता है कि हम लोगों के लिए २-३ मिनट भी कठिन हो जाता है। तो विश्राम के बिना सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। और विश्राम कब मिलता है ? जब असत् की कामना न रहे, असत् की कामना। असत् कहते किसे हैं कि जिससे आपका नित्य सम्बन्ध न रहे। आप विचार कीजिये, जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है आज हम उसकी कामना का त्याग नहीं कर पाते। यदि आपने कर दिया है तब तो आपको अपने आप विश्राम मिलना चाहिये। और अगर आपको विश्राम मिला है तो सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होनी चाहिये और यदि सामर्थ्य की अभिव्यक्ति हुई है तो स्वाधीनता मिलनी चाहिये। यदि स्वाधीनता मिली है तो जीवन में से जड़ता, पराधीनंता, असमर्थता, अभाव यह नहीं रहना चाहिये। तो अब यही एक मूल प्रश्न रह जाता है कि हम सबको विश्राम कैसे मिले। इसके लिये संघ की नीति के अनुसार जो साधन प्रणाली है वह आपको निवेदन करना है।

संघ की साधन प्रणाली में किसी मत, सम्प्रदाय की गंध नहीं है और न किसी का विरोध है। क्यों ? भूमि, भला बताओ तो सही, किस पौधे का विरोध करती है और किसका पक्ष करती है ? भूमि न किसी पौधे का विरोध करती है न किसी का पक्षपात करती है, अपितु प्रत्येक पौधे को विकसित करती है। उसी प्रकार की साधन-प्रणाली मानव सेवा संघ की साधन-प्रणाली है। आप कहेंगे, कैसे ? ध्यान दीजिये। मानव सेवा संघ की प्रणाली में आपसे यह नहीं कहा जायेगा कि आप

अमुक में अपना चित्त लगाइये अथवा आप अमुक से अपना चित्त हटाइये, यह नहीं कहा जायेगा। तो क्या कहा जायेगा ? कि भाई चित्त को उसमें लगाइये जिससे हटे नहीं, और उससे हटाइये जिसमें लगे नहीं। अगर आप अपने चित्त को उसमें लगाते हैं जिससे हटता है अथवा उससे हटाते हैं जिसमें लगता है तो चित्त का लगना और हटना कुछ अर्थ नहीं रखता। अब यह प्रश्न पैदा होता है कि भई, ऐसा कौनसा है जिसमें हम चित्त को लगायें और वह हटे नहीं तो उसको ढूंढने के लिये, उसका पता लगाने के लिये आपको किसी और की सहायता नहीं लेना है। केवल इतना करना है कि आप उस चित्त पर से अपना शासन हटाइये, उससे ममता हटाइये, और फिर देखिये कि वह चित्त स्वभाव से किसमें लगता है ? जिसमें वह चित्त स्वभाव से लगे उस समय आप अपने विवेक से यह विचार और कर लीजिये कि यहां से हटेगा तो नहीं ! अगर हटता हुआ मालूम हो आपको कि यहां से चित्त अवश्य हटेगा तब तो यह मालूम होते ही चित्त वहां से हट जायेगा।

तो जहां-जहां चित्त लगे अपने आप, आप लगाने का प्रयास न करें, वहां-वहां अपने ज्ञान से देखें कि यहां से चित्त हटेगा तो नहीं। इसमें तो कोई कठिनाई नहीं है--कोई बालक खेल रहा हो और कोई दूर से देख रहा हो तो बालक के खेलने का श्रम उस देखने वाले पर तो कुछ नहीं होता—तो चित्त जब अपने आप किसी में लगे तो आप देखिये जहां लगा है वहां से हटेगा तो नहीं और जहां से हटे तो देखिये वहां फिर लगेगा तो नहीं – अगर चित्त की गति आपको ऐसी दिखाई देती रहे कि यह तो वहीं लगता है जहां से हटता है और वहीं से फिर हटता है जहां फिर लगता है—अगर ऐसा मालूम हो तब फिर आपको चित्त से

असहयोग करना चाहिये। असहयोग का अर्थ क्या है? द्वेष नहीं है, किसी को बुरा समझना नहीं है। असहयोग का अर्थ है सम्बन्ध-विच्छेद। और किसलिये सम्बन्ध-विच्छेद! कि भाई, तुम वह नहीं करते जो करना चाहिये, इसलिये हमारा तुम्हारा सम्बन्ध विच्छेद है। अगर तुम वह करने लगो जो करना चाहिये, तो हम तुम सर्वदा एक हैं। यह मैंने असहयोग का अर्थ समझा। असहयोग का अर्थ मैंने कभी यह नहीं समझा कि असहयोग के माने किसी से स्थायी भेद कायम करना। यह तो प्रीति का एक प्रकार है। क्या प्रकार है कि देखो भाई, तुम वह नहीं करते जो तुम्हें करना चाहिये तो हम नहीं तुमसे बोलते। हम नहीं तुमसे सम्बन्ध रखते। इसका मतलब यह नहीं है कि हम नहीं तुमसे सम्बन्ध रखना चाहते। हम तो तुमसे सम्बन्ध कभी तोड़ना ही नहीं चाहते, किन्तु तुम वह नहीं करते जो तुम्हें करना चाहिये। इसका नाम है असहयोग। तो असहयोग करते ही, आप सच मानिये, जिसे आप अपना मन कहते हैं, जिसे आप चंचल मन कहते हैं, जिसे अशुद्ध मन कहते हैं; वह अपने आप स्थिर हो जायेगा। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। क्यों भाई, असहयोग करने मात्र से क्यों शुद्ध हो जायेगा, कि मन करण है, कर्त्ता नहीं है।

आप अपने स्वभाव को उसमें आरोप करते हैं उसमें देखते हैं, किसके द्वारा? सहयोग के द्वारा। जब आपका सहयोग नहीं रहेगा तब वह मन अपने आप जो स्वभाव से ही निर्विकार है–मैं ऐसा मानता हूँ कि प्रत्येक वस्तु सच पूछिये तो स्वभाव से निर्विकार है किन्तु उसमें जो विकारों का भास होता है वह होता है अविवेक के कारण: और अविवेक जो है वह विवेक का अनादर है और कुछ नहीं—इसलिये भाई, जो ज्ञान का प्रकाश

आपको प्राप्त है—किसी पोथी का सीखा हुआ नहीं, किसी गुरू का बताया हुआ नहीं, किसी का सुनाया हुआ नहीं, वरन् स्वयं जो ज्ञान आपको प्राप्त है उस ज्ञान के प्रकाश में जब आप शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि आदि से असहयोग कर लेते हैं अर्थात् असंग हो जाते हैं तब सच मानिये, ये सब निर्विकार हो जाते हैं। कहते तो आप यह हैं कि हमारा मन खराब है। अगर मन में चेतना होती और कहीं वह मुझे अपना वकील बनाता तो मैं यह सिद्ध कर देता कि तुम्हारी खराबी से मन खराब है। मन किसी भी काल में खराब नहीं हुआ। मैं आपसे पूछता हूँ, जरा ध्यान तो दीजिये, जो शक्ति पर-प्रकाश्य है, वह भली और बुरी हो सकती है ? वह न भली हो सकती है, न बुरी हो सकती है। बुरे के हाथ में आकर वह बुरी मालूम होने लगती है और भले के हाथ में पहुँचकर भली मालूम होने लगती है। जैसे हम लोग उदाहरण देते हैं न ! लोग धन की निन्दा करते हैं, पर वही धन जब उदार व्यक्ति के हाथ में होता है तब निन्दनीय होता है ! और वही धन जब कंजूस के पास पहुँच जाता है तब आदरणीय होता है ! जरा सोचिये, हम लोग शरीर की निन्दा करते हैं और वही शरीर जब संयमी के पास पहुँच जाता है तब निन्दनीय होता है ! और वही शरीर जब विलासी के हाथ में पड़ जाता है तब आदरणीय होता है !

सोचिये तो सही, गम्भीरता से विचार कीजिये तो सही। आपने और हमने कितना समय इसमें बर्बाद किया कि मन की निन्दा की, शरीर की निन्दा की, धन की निन्दा की, वस्तुओं की निन्दा की और फिर उन्हीं के दास हैं, बड़े आश्चर्य की बात ! आज का पति हमें मिलता है, कान में कहता है, अपनी पत्नी की

खूब निन्दा करता है। है किनका दास ? है उसी का दास। किस बात के लिये ? मेरी दासी बन कर नहीं रहती, इसलिये पत्नी बुरी है। वास्तव में पत्नी बुरी नहीं। ऐसे ही पति वास्तव में बुरा नहीं लेकिन चूंकि मेरा दास बन कर नहीं रहता इसलिये बुरा है। इसलिये भाई, जरा सोचो तो सही, इस व्यापार से आज तक आपका चित्त शुद्ध हुआ ? शान्त हुआ ? क्या होने की सम्भावना है ? तो भाई,संघ की नीति के अनुसार तो कभी चित्त शुद्ध और शान्त नहीं हो सकता जब तक कि हम अपने दोषों को, अपने विकारों को, चित्त में आरोप करते रहेंगे।

आप कहेंगे कि भाई, अपना विकार है क्या ? तो सबसे बड़ा तो अपना यही विकार है कि चित्त के ऊपर, शरीर के ऊपर, प्राणों के ऊपर, बुद्धि के ऊपर आपने जो ममता का पत्थर लाद दिया है, यह बड़ा भारी अपराध है प्राणी का। बड़ा भारी अपराध है। सच पूछिये तो इससे बड़ा कोई अपराध हो ही नहीं सकता। मैं एक बात आपसे निवेदन कर दूँ बुरा मत मानना-देश का सबसे बड़ा द्रोही कौन होगा ? जिसकी देश में गाढ़ ममता है। वह जरूर देश का नाश कर देगा। क्यों ? उसके जीवन में हो जायेगा भेद और भेद होने से वह संघर्ष को जन्म देगा—देश बर्बाद हो जायेगा। जरा ध्यान दीजिये, गम्भीरता से ध्यान दीजिये—अपने बालक का सबसे बड़ा दुश्मन कौन है ? जो उसे अपना मानता है। अपने वर्ग का सबसे बड़ा दुश्मन कौन है ? जो यह कहता है—मेरा वर्ग—मेरा वर्ग। समझो, सर्व नाश हुआ उस वर्ग का। तो कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि यह हमारा आपका जाना हुआ असत् है कि जिसमें हमारी ममता हो जाती है वह दूषित हो जाती है। जिसमें हमारी ममता नहीं रहती वह शुद्ध हो जाता है। क्या आज हम इस अपने जाने हुए असत् का त्याग करने को राजी हैं ? यदि राजी हैं तो सच मानिये, जिस

प्रकार सूर्य का उदय और अन्धकार की निवृत्ति और प्रकाश की प्राप्ति युगपद् हैं उसी प्रकार असत् का त्याग सत् का संग और साधन की अभिव्यक्ति और सिद्धि युगपद् हैं।

किन्तु दुःख की बात तो यह है कि जितनी योग्यता हमारे पास है वह दूसरों को समझाने के लिये है, अपने समझने के लिये नहीं है। और जब तक यह दोष रहेगा महाराज! जो किसी का भी गुरू बनेगा वह अपना गुरू नहीं बन सकता और जो अपना गुरू नहीं बन सकता वह जगत् का गुरू नहीं बन सकता। आप आप सच मानिये, इसलिये जो व्यक्तियों के गुरू हैं उन शिष्यों ने ही अपने गुरूओं की सबसे बड़ी निन्दा की। आज आप विचार करके देखें, मैं आलोचना की दृष्टि से पूछूं, सोचूं तो मुझको साफ यह दिखाई देता है कि इस्लाम की निन्दा, मुहम्मद की निन्दा जितनी मुसलमानों के द्वारा हुई, उतनी हिन्दुओं के द्वारा नहीं हुई। और महाराज! हिन्दू धर्म की निन्दा जितनी हिन्दुओं के द्वारा हुई उतनी मुसलमानों के द्वारा नहीं हुई। बुद्ध धर्म की निन्दा जितनी बुद्धिष्टों के द्वारा हुई उनके द्वारा नहीं हुई जो बुद्धिष्ट नहीं हैं। ईसाई धर्म की निन्दा उन ईसाइयों के द्वारा हुई उतनी उनके द्वारा नहीं हुई जो ईसाई नहीं हैं। क्या कारण है? और कोई कारण नहीं है भाई मेरे! यह हमारी आपकी ममता का जो पत्थर है, यह ममता का पत्थर गुरू में लगा दो तो गुरू की निन्दा, सम्प्रदाय में लगादो तो सम्प्रदाय की निन्दा, देश में लगा दो तो देश की निन्दा, वर्ग में लगा दो तो वर्ग की निन्दा और शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण में लगादो तो ये निन्दनीय हो जायं।

इसलिये भाई, बड़ी ही धीरज के साथ, बड़ी ही गम्भीरता और विचार के साथ आज हमें और आपको इस समस्या पर

विचार करना है और यह विचार करना है कि जिसको हम शुद्ध नहीं रख सकते, जिसका हम सदुपयोग नहीं कर सकते उससे हमें ममता करने का क्या अधिकार है ? सीधी बात। जिसका सदुपयोग नहीं कर सकते, जिसको शुद्ध नहीं रख सकते, उसकी ममता करने का कोई अधिकार नहीं है और संग्रह करने का कोई अधिकार नहीं है। अगर यह बात हम और आप मान लेते हैं तो सच मानिये, आप जानते हैं, प्रकृति का मंगलमय विधान क्या है ? प्रकृति का मंगलमय विधान यह है कि जिसको विश्राम प्राप्त होता है, जिसको शान्ति प्राप्त होती है उसके पास सामर्थ्य बिना बुलाये आती है। और शान्ति क्या संग्रह से मिलती है ? शान्ति क्या ममता से मिलती है ? शान्ति क्या सुख-दुःख के भोग से मिलती है ? कदापि नहीं। आज मानव जीवन का जो मौलिक प्रश्न है बड़ा भारी प्रश्न है वह यह है कि हम और आप शान्ति का सम्पादन करें। और उसी शान्ति के सम्पादन की गतिबिधि का नाम मानव सेवा संघ की प्रणाली में मूक-सत्संग बताया गया। यानी हम सब मूक-सत्संग करें। अब आप कहेंगे कि मूक-सत्संग क्या होता है ? तो इसका अर्थ कुछ लोग तो यह समझते हैं कि चुप होकर चिन्तन करो। कुछ लोग समझते हैं कि चुप होकर अचिन्त्य रहो। कुछ लोग समझते हैं कि चुप होकर मन से संघर्ष करो। पर ऐसी बात नहीं है।

मूक सत्संग का अर्थ यह है कि चिन्तन हो, अचिन्तता हो दोनों से ही असंग रहो। चिन्तन का भी सुख मत भोगो, अचिन्तता का भी सुख मत भोगो, और अगर भुक्त-अभुक्त इच्छाओं के प्रभाव से अपने आप चिन्तन उत्पन्न हो तो उससे न भयभीत हो जाओ और न उसका सुख लो। जब आप उत्पन्न हुए चिन्तन से से भयभीत नहीं होंगे, उसका सुख नहीं लेंगे तब चिन्तन से तादा-

त्म्यता नहीं रहेगी और जब चिन्तन से तादात्म्यता नहीं रहेगी तब वह चिन्तन निर्जीव होकर अपने आप मिट जायेगा। किन्तु एक बात का ध्यान रखिये कि जब वह चिन्तन अपने आप मिट जाय और अचिन्तता आ जाय तो अचिन्तता में चिन्तन की अपेक्षा कहीं अधिक रस है। बड़ा रस है महाराज ! साधारण रस नहीं है, बहुत बड़ा रस है। आप उस रस के भोगी मत बनिये। अचिन्तता के रस के भोगी मत बनिये। अर्थात् योग का भोग मत कीजिये। योग योग के लिये, बहुत ही आवश्यक है परन्तु योग भोग के लिये आवश्यक नहीं है। आप कहेंगे कि योग का भी भोग होता है ? हां, जीवन का जब मैं अध्ययन करता हूँ तो मुझे साफ दिखाई देता है कि योग का भी भोग का होता है। आप कहेंगे कि योग का भोग कैसा ? पहले जरा सोचो तो सही, योग और भोग के भेद पर जरा विचार करो। भोग किसे कहते हैं ?- शक्ति का व्यय और योग किसे कहते हैं ?—कि शक्ति का संचय। तो शक्ति का व्यय कैसे हाता है -कि प्रवृत्ति से और शक्ति का संचय कैसे होता है - निवृत्ति से। जैसे आप बोलते हैं तो बोलने की शक्ति का व्यय होता है और जब आप नहीं बोलते हैं तो बोलने की शक्ति का संचय होता है। यही योग विज्ञान है सरकार ! और कोई योग विज्ञान नहीं है। चाहे प्राण-अपान के निरोध से करो उसे, चाहे मन के निरोध से करो और चाहे किसी भी प्रकार करो—प्रकार अनेक हो सकते हैं लेकिन योग का असली स्वरूप क्या है ? योग का असली स्वरूप है वास्तविक निवृत्ति— निर+वृत्ति - मैं अर्थ करूं उसका अपने ढंग का बेपढ़े का तो निरवृत्ति यानी वृत्ति का स्फुरण न होना। यह हुआ योग। और ये वृत्ति के स्फुरण न होने की जो बात है यह अस्वाभाविक नहीं है, यह स्वाभाविक है। क्यों ? जब एक बार वृत्ति स्फुरित होकर

अपना कार्य कर डालती है या उसका आप उपयोग कर डालते हैं तब वह वृत्ति अपने आप निवृत्ति हो जाती है। प्रत्येक वृत्ति का स्फुरण अपने आप निवृत्ति में विलीन होता है। जिस प्रकार उदाहरण लीजिये—प्रत्येक उत्पत्ति का विनाश अपने आप होता है। विनाश के लिये कोई यत्न नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार प्रवृत्ति के अन्त में निवृत्ति अपने आप आती है। प्रवृत्ति के अन्त में जब निवृत्ति अपने आप आती है तो वह निवृत्ति पुनः प्रवृत्ति में क्यों बदलती है तो उसका कारण यह नहीं है कि जैसे लोगों ने कह दिया कि नहीं ! नहीं !! वह तो मन का स्वभाव ही है—यह कारण नहीं है। प्रवृत्ति काल का जो सुख-दुःख है उसका प्रभाव भोग बुद्धि से अपने में अंकित होता है वह अंकित हुआ प्रभाव पुनः निवृत्ति को प्रवृत्ति में बदलता है।

तात्पर्य क्या निकला कि प्रवृत्ति के द्वारा होने वाला जो सुख दुःख है उसका जब तक हम भोग करते रहेंगे तब तक एक घण्टे, दो घण्टे की तो कौन कहे ! वर्षों की आप समाधि लगाइये, जब उत्थान होगा तब वही प्रवृत्ति उदय होगी कि जिस प्रवृत्ति का आपने भोग किया है। तो तात्पर्य क्या निकला कि होने वाली प्रवृत्ति—होने वाली माने, जिस प्रवृत्ति को आप रोक नहीं सकते, जिस प्रवृत्ति को आप मिटा नहीं सकते—होने वाली प्रवृत्ति के द्वारा हम सुख भोग के स्थान पर तो सेवा का भाव करदें और दुःख भोग के स्थान पर त्याग का भाव अपनालें कि भाई, बोलने में बड़ा सुख है लेकिन सेवा का भाव कैसे होगा कि भाई, श्रोता के स्वरूप में जो हमारे प्रेमास्पद हैं, वाणी के द्वारा उनकी पूजा करना है, न कि अच्छे व्याख्याता कहला करके देहाभिमान को बढ़ाना है। तो भाई,जब हमारी और आपकी प्रत्येक प्रवृत्ति भोग-

बुद्धि से रहित, सेवा भाव से होने लगे– तब क्या होगा ? प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त जो स्वभाव से होता है बिना श्रम के होता है चाहे क्षणिक काल क्यों न हो, वह बिना श्रम के स्वभाव से आने वाली जो निवृत्ति है वह योग को प्रदान कर देती है। अथवा यों कहो कि वही योग है।

वह जो योग है उसका भी हमें भोग नहीं करना है। बोले, उसका भोग न करने के लिये हमें क्या करना होगा ? –कि योग का जो आरम्भ काल है वह जरा सूना-सूना लगता है और फिर धीरे-धीरे वह सूनापन शान्ति में बदलता है और वह शान्ति जो है वह बड़ी गतिशील है। है तो शान्ति–बड़े आश्चर्य की बात मालूम होगी आपको। है तो शान्ति, पर बड़ी गति है उसमें महाराज ! बड़ी गति है। इसी आधार पर आपने देखा न ! ऐटम में जो एनर्जी है वह बड़ी-बड़ी चीजों में नहीं है। सूक्ष्म चीज में जो शक्ति होती है वह स्थूल में नहीं होती। क्यों ? स्थूल जो चीज होती है वह सीमित होती है। सूक्ष्म जो वस्तु होती है वह विभु होती है। शान्ति जो है वह प्रवृत्ति की अपेक्षा, भोग की अपेक्षा सूक्ष्म है और सूक्ष्म होने से विभु है। विभु होने से शक्तिशाली है। तो वह जो शान्ति है—जिस शक्ति का प्रादुर्भाव करेगी, उस शक्ति का आप भोग न करें। ●

(ब)

तो भोग करना क्या है ? यह अनुभव न करें कि मैं शक्तिशाली हूँ। सबसे बड़ा भोग तो यही होता है। जिस समय व्यक्ति को यह मालूम होता है कि मुझमें सामर्थ्य है, मैं शान्त हूँ, मुझको कुछ नहीं चाहिये, मेरे जीवन में से दुःख निकल गया—यह जो किसी गुण विशेष के साथ जो अहं का सम्बन्ध है, यह क्या है ? यही योग का भोग है। जब हम और आप आये हुए योग का भोग नहीं करेंगे तो योग जो स्वभाव से गतिशील है—वह हमें पराधीनता से स्वाधीनता की ओर ले जायेगा, जड़ता से चिन्मयता की ओर ले जायेगा और अभाव से पूर्णता की ओर ले जायेगा। मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जायेगा। यह नियम ही है। तो तात्पर्य यह निकला—योग का भोग न करने से चिन्मय, दिव्य जीवन की प्राप्ति होगी। यह भी बात संकेत से समझना चाहिये—कहना तो यह चाहिये कि दिव्य, चिन्मय जीवन जो है उससे अभिन्नता होगी। उसके और अपने बीच में भेद का नाश होगा। जब भेद का नाश होगा तब अपने आप प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। इसका तात्पर्य क्या निकला कि अपने आप आये हुए योग का भोग न करने से नित्य-योग, बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति होगी। तो नित्य-योग जो है यह सामर्थ्य का प्रतीक है। और बोध जो है वह जीवन का प्रतीक है और प्रेम जो है यह रस का प्रतीक

है। अगर जीवन में से रस निकाल दिया जाय तो आपको जीवन अभीष्ट है ? अगर रस में से जीवन निकाल दिया जाय तो आपको रस अभीष्ट है ? और अगर रस और जीवन में से सामर्थ्य निकाल दी जाय तो आपको वह जीवन प्रिय है ? आप कहेंगे—नहीं। प्रिय क्या है ?—कि भाई, सामर्थ्य भी हो, जीवन भी हो और नित-नव रस भी हो। तो भाई, नित-नव रस की प्राप्ति, जीवन की प्राप्ति और सामर्थ्य की प्राप्ति हम सबको अभीष्ट है। और ये तीनों बातें एक ही जीवन में अलग-अलग नहीं।

कहीं आपको सामर्थ्य दिखाई दे और जीवन न दिखाई न दे—जैसे विचार कीजिये, जिसको आप शक्ति कहते हैं, जिसको आप प्रकृति कहते हैं इसमें सामर्थ्य तो है, पर जीवन नहीं क्योंकि सतत् परिवर्तन है। जिसको आप ज्ञान कहते हैं, जिसको आप आत्मा कहते हैं, उसमें जीवन तो है, पर ज्ञान प्रकाशक है कि कर्त्ता ? ध्यान दें, कोई बुरा न माने भाई, ज्ञान प्रकाशक है या कर्त्ता ?—आपको मानना पड़ेगा—प्रकाशक है। तो जो प्रकाशक होता है उसमें वह सामर्थ्य नहीं होती जो पर-प्रकाश्य में होती है। जो पर-प्रकाश्य होता है उसमें वह ज्ञान नहीं होता जो प्रकाशक में होता है। लेकिन अपनी मांग ! अपनी मांग तो सामर्थ्य की भी है और ज्ञान की भी। यह नहीं कि हमको ज्ञान नहीं चाहिये, यह नहीं कि हमको सामर्थ्य नहीं चाहिये। कल्पना करो कि आपको ज्ञान भी चाहिये, सामर्थ्य भी चाहिये तो क्या आपको रस नहीं चाहिये ? हमें रस भी चाहिये। तो रस की जो मांग है उसका प्रतीक है प्रेम। जीवन की जो मांग है उसका प्रतीक है—तत्वज्ञान और सामर्थ्य की जो मांग है उसका प्रतीक है—नित्य योग। जो नित्य-योग, तत्वज्ञान और

परम प्रेम; इन तीनों की जहाँ अभिन्नता है, इन तीनों की जहाँ एकता है, वह क्या है ? वह महाराज ! संघ की भाषा में मानव जीवन है। तो यह जो मानव-जीवन है, जिसमें कि नित्य योग है, जिसमें कि तत्वज्ञान है, जिसमें कि परम प्रेम है वह मानव जीवन किसके द्वारा प्राप्त होता है ? वह मानव-जीवन प्राप्त होता है सत्संग के द्वारा। और किस प्रकार के सत्संग के द्वारा प्राप्त होता है ? वह उस प्रकार के सत्संग के द्वारा प्राप्त होता है कि जिसमें लेश-मात्र भी श्रम नहीं है।

जो सुख का सद्व्यय नहीं कर सकता वह दुःख का सद्व्यय कर ही नहीं सकता। आज हमारी दशा क्या है ? कि सुख-काल में तो सुख का भोग करें और जब दुःख आये तो असंग होकरके दुःख से मुक्त हो जायें। यह बात कभी नहीं बनेगी। आपको यदि असंग होना है तो सुख से भी असंग होना है और दुःख से भी असंग होना है। केवल दुःख से असंग हो जायँ और सुख का भोग करते रहें, केवल दुःख से असंग होजायँ और सुख और शान्ति का भोग करते रहें। तो मेरा तो अपना ऐसा विश्वास है कि आपको जहाँ दुःख से असंग होने की बात है वहां सुख और शान्ति से भी असंग होने की बात है। वहाँ स्वाधीनता में भी रमण न करने की बात है। इसलिए भाई, बड़े ही धीरज के साथ आज हमें इस बात पर विचार करना है कि बिना श्रम के जो सत् का संग है वह हम सब करें। उसके करने का समय प्रत्येक कार्य से पूर्व और प्रत्येक कार्य के अन्त में मुख्य समय है। और सोने से पहले और उठने के बाद। इसी बात को व्यावहारिक रूप देने के लिए जो संघ में बताया गया कि सायंकाल साढ़े सात बजे और प्रातः साढ़े तीन बजे मूक-सत्संग करना है।

इसका मतलब यह नहीं है कि वही उसका समय है। इसका मतलब केवल इतना है कि आपको इस बात की याद आये कि हमको कुछ देर शान्त भी होना है, विश्राम भी करना है। और आप कहें कि विश्राम तो हम नित्य सुषुप्ति में करते हैं। तो जो चीज अपने आप होती है, उसमें कर्त्तृत्व होता नहीं और जिसमें कर्त्तृत्व नहीं होता उससे करने के राग का नाश नहीं होता। इसलिये भाई, यह जो सत्संग करने के राग की रुचि है, सत्संग करने का जो राग है उसके लिए हम सबको श्रमरहित होकर सत् का संग करना है। क्यों? सत् उसे नहीं कहते जिससे देश-काल की दूरी हो। सत् कहते ही उसे हैं जो सर्वत्र हो, सर्वदा हो। तो जो सर्वत्र, सर्वदा है उसका नाश कभी नहीं हो सकता। और जिसका नाश कभी नहीं हो सकता वह हमसे दूर कभी हो ही नहीं सकता। जो हमसे दूर नहीं है, उसमें प्रेम होसकता है, उससे योग हो सकता है, उसका बोध हो सकता है। उसके लिये कोई श्रम अपेक्षित नहीं होता। योग श्रम नहीं है, बोध श्रम नहीं है, प्रेम श्रम नहीं है।

इसलिए जो अविनाशी-तत्व सर्वत्र, सर्वदा ज्यों का त्यों है उसमें हमारा योग हो। तो कैसे होगा? कि जो सर्वत्र, सर्वदा नहीं है उसकी कामना के त्याग से। तो तात्पर्य क्या निकला कि कामना का त्याग योग का साधन है। भाई, कामना का त्याग योग का साधन क्यों होगया? कि कामना कहते किसे हैं? सोचिये तो सही। कामना का अर्थ क्या है? जो हमारा वस्तु से सम्बन्ध जोड़ दे। चाहे वह वस्तु के स्थान पर शरीर हो, चाहे मन हो, चाहे प्राण हो, चाहे इन्द्रियां हों और चाहे बुद्धि हो, चाहे समस्त सृष्टि हो। जो सृष्टि से सम्बन्ध जोड़ने वाली शक्ति है, जो सृष्टि से सम्बन्ध जोड़ने वाली प्रवृत्ति कहो, उसी

का नाम है कामना। आप कहेंगे कि कामना तो कोई प्रवृत्ति नहीं मालूम होती। बड़ी भारी प्रवृत्ति है कामना, महाराज ! क्यों, जितनी प्रवृत्तियाँ आप देखते हैं उसके बीज रूप में कामना ही तो है ? और क्या है ? बताइये। शुक्लाजी के मन में कामना उठी कि शरणानन्द को बिहार में बिठालना चाहिए। बेचारे ……जी फँस गये बुरी तरह से। और कैसे फँसे ? यह मानकर फँसे कि शरणानन्द को फँसाना है। यह मानकर नहीं फँसे कि मैं फँस रहा हूँ। फँसे तो बड़ी बुद्धिमानी से और यह सोच कर फँसे कि इस आजाद पंछी को पिंजड़े में बन्द करना है और उन्होंने अपने मन की बात पूरी कर भी ली, किसी सीमा तक कर लिया बन्द। लेकिन जरा सोचिये, हम लोगों का सम्बन्ध तो उससे है जिसकी प्राप्ति वस्तु से सम्बन्ध विच्छेद करने पर होती है। वस्तु से सम्बन्ध विच्छेद करने का ही दूसरा नाम कामना-रहित होना है।

तो जब कामना-रहित होने से योग की प्राप्ति होती है, तो मैं आपसे पूछता हूँ कि पराधीनता कामना पूर्ति में है कि कामना के त्याग में है ? हर भाई-बहिन को यह बात माननी पड़ेगी कि भाई, पराधीनता कामना पूर्ति में है, कामना त्याग में नहीं। हम बोलने में पराधीन होसकते हैं, न बोलने में नहीं। कोई सुनने में पराधीन होसकता है किन्तु न सुनने में नहीं। कोई देखने में पराधीन होसकता है किन्तु न देखने में नहीं। तो यह जो न देखने से, न सुनने से, न बोलने से, न सोचने से जिसका संग होता है वह है मूक-सत्संग। तो कामना-रहित होने से योग की प्राप्ति होगी। और वह योग की प्राप्ति किसी परिस्थिति पर निर्भर नहीं है, किसी देश-काल पर निर्भर नहीं। वह सर्वत्र हो सकती है, सभी को सकती है। जब हम कामना-

रहित होकर विश्राम करें या हमको विश्राम मिले, या विश्राम का सम्पादन हो तब कुछ देर के बाद मन में उथल-पुथल मचती है। आप लोगों की भाषा बोल रहा हूँ कि मन में उथल-पुथल मचती है, मेरी अपनी यह भाषा नहीं है। मेरी भाषा तो यह है कि मन में न तो उथल है न पुथल है। जैसे तुम वैसा तुम्हारा मन। तो उथल-पुथल क्या मचती है कि उससे पूर्व जो भुक्त और अभुक्त इच्छाओं का जो प्रभाव है वह प्रभाव मिटने के लिए प्रकट होता है। जिसे आज लोग मन की चंचलता कहते हैं, जिसे आप मन का विकार कहते हैं, वह विकार नहीं है। वह तो भुक्त-अभुक्त इच्छाओं का प्रभाव है, जो दबा हुआ था, मवाद के रूप में, वह प्रकट होता है नाश होने के लिए।

किन्तु हमसे भूल क्या होती है कि जब वह विकार प्रकट होता है नाश होने के लिए, तब उससे भयभीत हो जाते हैं। और भयभीत होकर यह मानने लगते हैं कि हाय ! हाय !! हमारा मन तो बहुत खराब। यह जो हमारी मान्यता होजाती है कि हमारा मन बहुत खराब, तो बेचारा मन थोड़ी देर के लिये दब जाता है। क्यों दब जाता है कि मन नहीं चाहता कि आप उसके द्वारा दुःखी हों। मैं सच कहता हूँ, मन नहीं चाहता कि आप दुःखी हों। दब जाता है। फिर वह अनन्त की कृपा-शक्ति फिर देखती है कि अच्छा ! इस समय यह शान्त होगया, यह भयभीत नहीं है तो फिर मन का विकार प्रगट होता है। जिसे आप विकार कहते हैं, वह प्रकट होता है केवल इसलिए कि वह अनन्त की कृपा-शक्ति उसका नाश करदे, और मन को निर्मल बनाकर योग की दृढ़ता कर दे। होती तो वह सब बात इसलिये है, लेकिन हम लोग उससे सहयोग नहीं तोड़ते, उससे भयभीत होते हैं, अथवा उसका सुख लेने

लगते हैं। तो भाई, उस उत्पन्न होने वाली उथल-पुथल से हमको और आपको भयभीत नहीं होना चाहिये, उससे सुख नहीं लेना चाहिए, उससे तादात्म्य नहीं रखना चाहिए। उसके बाद ही मन अपने आप निर्विकल्प होजायेगा। और मन की जो निर्विकल्पता है वह बुद्धि को समता देने वाली है और इन्द्रियों को विषय से विमुख करने वाली है। मन बुद्धि और इन्द्रियों के बीच की चीज है। जब मन में संकल्प होता है तब बुद्धि मन के अधीन हो जाती है और मन इन्द्रियों के आधीन हो जाता है और जब मन इन्द्रियों के आधीन हो जाता है तब इन्द्रियाँ विषयों के आधीन हो जाती हैं। एक क्रम यह है।

और दूसरा क्रम क्या है? कि जब मन निर्विकल्प होता है तब इन्द्रियाँ मन में विलीन होती हैं और जब इन्द्रियाँ मन में बिलीन होती हैं तो मन बुद्धि में बिलीन होता है और जब मन बुद्धि में विलीन होता है तब बुद्धि सम होती है। एक क्रम है यह। तो यह जो मूक-सत्संग है—बुद्धि की समता कहो, मन की निर्विकल्पता कहो, इन्द्रियों की विषय बिमुखता कहो—यहाँ से तो ये आरम्भ होता है और इसका अन्त कहाँ होता है? इसका अन्त होता है शान्ति की असंगता से। समाधि की जो असंगता है, स्वाधीनता में जो सन्तुष्ट न होना है, वहाँ जाकर मूक-सत्संग की समाप्ति होती है। और जहाँ मूक-सत्संग की समाप्ति होती है वहाँ अपने आप परम प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, तत्वज्ञान की अभिव्यक्ति होती है, नित्य-योग की अभिव्यक्ति होती है। अथवा यों कहो कि सामर्थ्य, स्वाधीनता और रस की अभिव्यक्ति होती है। जिसको कि मानव सेवा संघ की भाषा में मानव-जीवन बताया जाता है। मानव-जीवन का जो वास्तविक चित्र है वह वही चित्र है जो आपको विश्राम से प्राप्त हो सकता है।

जरा सोचिये, अब विश्राम कैसे प्राप्त होता है ? तो विश्राम का एक और साधन है। वह क्या है ? वह है असंगता। असंगता का अर्थ क्या है ? असंगता का अर्थ केवल इतना है कि जिसे आप जानते हो वह आप नहीं हैं, सीधी बात। जो जानने में आता है वह ज्ञाता नहीं है और जो ज्ञाता है वह जानने में नहीं आता। तो आप किसे जानते हो ? समस्त सृष्टि को तुम जानते हो। जिस सृष्टि को तुम जानते हो वह सृष्टि तुम नहीं हो। इसका नाम असंगता है। अभी हमारी बहनें कह रहीं थीं—'मैं ब्रह्म हूँ, 'मैं ब्रह्म हूँ'। यह असंगता नहीं है। क्यों ? इस बात का तुम विश्वास कर सकते हो कि मैं ब्रह्म हूँ। पर इस बात का तुम्हें ज्ञान नहीं है। जैसे आपने यह विश्वास किया था कि मैं स्त्री हूँ। जैसे किसी ने यह विश्वास किया था कि मैं हिन्दू हूँ। उसी तरह से आपने यह विश्वास कर लिया कि मैं ब्रह्म हूँ। वास्तव में ज्ञान तुम्हें केवल इतना है कि भाई, जो चीज जानने में आती है वह 'मैं' नहीं है, उसका नाम 'मैं' नहीं हो सकता। 'यह' का नाम 'मैं' नहीं है, 'यह' 'मैं' नहीं है। यह है असंगता का साधन। यह असंगता नहीं है। यह असंगता का साधन है। जब इससे असंगता प्राप्त होती है तो किससे असंगता प्राप्त होती है ? समाधि से असंगता। अब लोग क्या समझते हैं कि हमको कर्म से असंगता प्राप्त हो जाय, चिंतन से असंगता प्राप्त हो जाय। अरे भाई, सोचो तो सही—कर्म से असंगता कर्म काल में कैसे प्राप्त होगी आपको ? कर्म काल में कर्म से असंगता प्राप्त नहीं होगी। तो क्या प्राप्त होगी ? तो कर्म के फल से असंगता प्राप्त होगी, कर्म से नहीं। निष्काम भाव से रोटी खाने से पेट न भरता हो, ऐसी बात नहीं है। निष्काम भाव से कपड़ा पहनने से शीत न मिटता हो, ऐसी बात नहीं है। तो कर्म से असंगता नहीं होती, कर्म के फल से होती है। और असंगता किससे होती है भाई ?

कोई कहे कि हम चिन्तन से असंग हो जायं। तो भाई, चिन्तन से असंगता नहीं होती। चिन्तन जब प्रियता के रूप में बदलता है तब कर्त्तव्य के अभिमान से असंगता होती है। चिन्तन में कर्त्तव्य का जो अभिमान हो जाता है उससे असंगता होती है। अगर कोई कहे तो फिर वास्तव में असंगता किससे होती है ? कि भाई, वास्तव में तो असंगता चिरशान्ति से ही होती है। चिरशान्ति से जो असंगता है वह असंगता है। जरा सोचिये तो सही, जो जीवन चिरशान्ति से असंग होने पर प्राप्त होगा उस जीवन का आप वर्णन कर सकेंगे ? नहीं कर सकते, किन्तु प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये भाई, असंगता से भी विश्राम मिलता है। और किस प्रकार विश्राम मिलता है ? तो भाई, शरणागति से भी विश्राम मिलता है। बोले, क्यों ? शरणागति से कैसे मिलता है ? जरा विचार तो कीजिये, जब हम अपने में अपना कुछ नहीं पाते और अपने को भी बिना किसी शर्त के उसको दे देते हैं जिसको सुना है। देखिये—शरणागति का अर्थ क्या है ? शरणागति कोई अभ्यास नहीं हैं। शरणागति भाव है। शरणागति का अर्थ केवल इतना है कि उस सुने हुए प्रभु के समर्पित अपने को कर देना। वह निराकार है कि साकार है, वह सविशेष है कि निर्विशेष है, वह यहाँ है कि वहाँ है, इसकी कोई चिन्ता नहीं। 'है' बस इतना बहुत पर्याप्त है। 'है' का जो विश्वास है वह विवेक विरोधी विश्वास नहीं है। क्योंकि विवेक कार्य करता है 'यह' पर, 'है' पर नहीं। 'यह' का जो विश्वास है वह विवेक-विरोधी विश्वास है। लेकिन 'है' का जो विश्वास है वह विवेक-विरोधी नहीं है। तो आप कहेंगे कि उस 'है' का विवेक में समर्थन भी तो नहीं है। बड़ी सुन्दर तर्क है यह। बड़ी ईमानदारी की तर्क है

कि मान लिया कि 'यह' का विश्वास विवेक-विरोधी विश्वास है लेकिन 'है' का विश्वास विवेक-विरोधी विश्वास न सही लेकिन विवेक का समर्थन भी तो नहीं है। लेकिन भाई, जरा सोचो तो सही—यदि विवेक के समर्थन से विश्वास सिद्ध होता तो वह विश्वास मार्ग नहीं हो सकता था। यदि विवेक के समर्थन से विश्वास सिद्ध होता तब तो वह विचार मार्ग उसका नाम होता।

विश्वास एक स्वतन्त्र मार्ग है। किस साधक के लिये ? तो जिसका सुने हुए प्रभु में विश्वास हो। चाहे उसने गुरू से सुना हो, चाहे ग्रन्थ से सुना हो। यह नहीं कि अनुभव में आया हो। अनुभव में आया हुआ प्रभु नहीं, जाना हुआ प्रभु नहीं। वह प्रभु जिसको सुना है और जिसमें विवेक का विरोध नहीं है। तो सुने हुए प्रभु में जो आस्था है वह आस्था शरणागति का साधन है। तो शरणागति है क्या ? तो सुने हुए प्रभु को अपने को दे देना। आप जानते हैं कि अपने को कौन दे सकता है ? वह स्त्री पति को नहीं दे सकती जो पति से सुख की आशा रखती हो। जरा ध्यान दीजिये, नाम लेती है कि मैंने अपने को दिया, वास्तव यह लेने का तरीका है। जैसे आप कहें कि हम भूमि में दाना डालते हैं, तो आप भूमि को दाना देते हैं ? अरे ! जब लेने की रुचि है तब देते क्या हैं ? अपने को देने का उपाय क्या है ? उस सुने हुए प्रभु से किसी प्रकार के सुख की आशा न की जाय। क्यों ? सुख मिलता है कामना पूर्ति में। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह सुना हुआ प्रभु कामना पूर्ति नहीं कर सकता, यह मैं नहीं मानता हूँ। कामना पूरी कर सकता है। लेकिन जिसे उसके शरणागत होना है वह सुने हुए प्रभु से सुख की आशा नहीं करता। बोले, भाई, सुख की आशा

न करें लेकिन सद्गति की आशा तो करें—बोले, वह सद्गति की आशा भी नहीं करता। क्यों सद्गति की आशा नहीं करता? भला सोचिये, जिसने अपने को शरणागत कर दिया, उसके जीवन में दुर्गति का प्रश्न है? जरा विचार तो कीजिये—जिसके जीवन में से सुख की आशा का नाश हो गया उसके जीवन में काम की उत्पत्ति हो सकती है? कदापि नहीं हो सकती। और जब काम की उत्पत्ति नहीं हो सकती तब बन्धन का प्रश्न ही नहीं आता। जब बन्धन का प्रश्न ही नहीं आता तो मोक्ष का महत्व ही क्या रह जाता है! इसलिये उस सुने हुए प्रभु से सद्-गति मत मांगो। और उस सुने हुए प्रभु से सुख की कामना मत करो कि तुम हमको सुख देना और तुम हमारी सद्गति कर देना। तो अब आप कहेंगे कि उस सुने हुए प्रभु के शरणागत होने का प्रयोजन? कि शरणागत होने का प्रयोजन तो यह है कि उस प्रभु को ही रस देना है।

जरा ध्यान दीजिये, यह है भक्तों की मुक्ति। नित्य-मुक्त को रस देने की नित-नव लालसा। नित्य मुक्त को, निर्विकार को रस देने की नित-नव लालसा, यह है शरणागत की मुक्ति। यही है शरणागत की भक्ति। तो कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि उस सुने हुए प्रभु में यदि आपकी आस्था है—मैं नहीं कहता हूँ कि आप आस्था करें—मुझे क्या जरूरत पड़ी कि आप आस्था करें—यदि आस्था है तो उससे कुछ मांगो मत। न तो सुख मांगो, न शक्ति मांगो और न सद्गति मांगो। क्योंकि ये ही तीन चीजें मांगने की हो सकती हैं। क्यों न मांगें? कि सुख के लिये तो उन्होंने कर्त्तव्य विज्ञान बना दिया और शान्ति के लिये उन्होंने कामना का त्याग बता दिया और सद्गति के लिये उन्होंने असंगता

प्रदान की है। तो असंग होकर अपनी सद्गति कर लो, कामना रहित होकर शान्ति का सम्पादन कर लो और मिले के सदुपयोग द्वारा सुख सम्पादित कर लो। इन तीन बातों के लिये ईश्वरवाद की कोई आवश्यकता नहीं है। ईश्वरवाद की आवश्यकता किस लिये है कि अगर आप शरणागत होकर अपने शरण्य को रस देने की लालसा रखते हैं तब आपको प्रभु की सत्ता में आस्था रखनी चाहिये। यह क्या है ? इस प्रकार भी हम और आप श्रम रहित हो सकते हैं। क्योंकि शरणागत के जीवन में भी श्रम नहीं है। जिसे असंगता प्राप्त है उसमें भी श्रम नहीं है और जिसने प्राप्त परिस्थिति का फलासक्ति से रहित, कर्त्तव्य के अभिमान से रहित सदुपयोग किया है उसके जीवन में भी श्रम नहीं है।

तात्पर्य क्या निकला ? कि प्रवृत्ति द्वारा, निवृत्ति द्वारा, शरणागति द्वारा हम सबको चिर-विश्राम प्राप्त करना है। और चिर विश्राम द्वारा यह सब अपने आप प्राप्त हो जाता है। अब यह रुचि की बात है कि आप पहले चिर-विश्राम को प्राप्त करके तब आप कर्त्तव्य परायण होंगे, असंग होंगे या शरणागत होंगे अथवा कर्त्तव्य परायण होकर, असंग होकर, शरणागत होकर चिर विश्राम प्राप्त करेंगे। ये दोनों ही बातें सम्भव हैं। इसमें आपकी अपनी रुचि है, जो आपको पहले प्राप्त हो सके, उसे प्राप्त कीजिये।

[१५]

देह से तादात्म्य स्वीकार करना संकल्पों की उत्पत्ति का कारण है। अपने सुख-दुःख का कारण दूसरों को मान लेना भारी भूल है। सुख-दुःख की प्रतीति के मूल में अपने देह का अभिमान हेतु है। अतः सत्संग के द्वारा इसका नाश सम्भव है।

अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियां विधान से आती हैं। विधान सदा ही हितकर है। अतः इसका आदर करो। सुख-दुःख को साधन-सामग्री मानें तो राग-द्वेष का नाश हो जायेगा। जगत के नाते, आत्मा के नाते और प्रभु के नाते सभी को प्रेम देने की सामर्थ्य आएगी।

निराश्रय होते ही स्वाश्रय आता है। 'स्व' का आश्रय जीवन देने वाला है, स्वाधीनता देने वाला है, दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्न कर देने वाला है। इसमें हम सभी समान हैं। परिस्थितियों के आधार पर दो व्यक्ति भी समान नहीं हैं। आप मत सोचिये कि हम बड़े-बड़े साधन करेंगे तो सिद्धि मिलेगी। आप साधन का एक अंश स्वीकार करके उसको जीवन में धारण करें, सफलता अनिवार्य है।

मनुष्य का बड़ापन वस्तु, योग्यता, सम्पत्ति में नहीं है। उसका बड़ापन चिरशान्ति में है, अमरत्व में है, परमप्रेम में है। सिद्धि का असली अर्थ भी यही है।

[१५]

(अ)

देह से जो तादात्म्य भाव स्वीकार कर लेते हैं यही संकल्पों की उत्पत्ति का मूल कारण है। परन्तु जब जीवन में सुख और दुःख की अनुभूति होती है तब हमसे भूल यह होती है कि हम उस दुःख और सुख का कारण दूसरों को मान लेते हैं। अर्थात् वस्तुओं को मान लेते हैं, व्यक्तियों को मान लेते हैं, परिस्थितियों को मान लेते हैं। और उसका परिणाम यह होता है कि हम अनुकूल परिस्थितियों की प्राप्ति के लिये दिन-रात प्रयत्न करते हैं और जो परिस्थिति प्राप्त है उसका सदुपयोग नहीं करते। यही भूल है। इस भूल का परिणाम यह हुआ है कि आज हम अपने को वस्तुओं की दासता से नहीं बचा पाते, व्यक्तियों की दासता से नहीं बचा पाते। और उससे यह होता है कि हमारे जीवन में अपने आप बिना बुलाये पराधीनता आ जाती है और राग-द्वेष आ जाता है। पराधीनता और राग-द्वेष का कारण एकमात्र मुझे तो यही मालूम होता है कि जब प्राणी अपने सुख का, अपने दुःख का कारण जब दूसरों को मान लेता है तब राग-द्वेष रहित हो नहीं सकता। और जब तक हम राग-द्वेष रहित नहीं हो सकते तब तक किसी के भी सम्बन्ध में सही निर्णय नहीं कर सकते। क्यों? जिससे राग हो जाता है उसका दोष नहीं दिखाई देता। जिससे द्वेष हो जाता है उसका गुण नहीं दिखाई देता। तो जब गुण और दोष का ठीक-ठीक दर्शन ही नहीं हो सकता

तब बताइये, किसी के सम्बन्ध में हम कोई भी निर्णय कैसे कर सकते हैं ? इससे यह सिद्ध होता है कि यदि हमें किसी के सम्बन्ध में कोई निर्णय करना है तो इससे पहले अपने को राग-द्वेष रहित करना है।

राग-द्वेष रहित करने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने सुख का, अपने दुःख का कारण किसी दूसरे को न मानें। आप कहेंगे कि यह कैसे सम्भव हो सकता है ! हमें तो स्पष्ट दिखाई देता है कि धन की प्राप्ति हमारे सुख का कारण है। हम आपसे कहें कि आप यह बताइये कि अगर आपके जीवन में लोभ का दोष न हो तो धन आपको सुख का कारण दिखाई देगा ? या हानि आपको भयभीत कर सकेगी ? कदापि नहीं। किंतु लोभ का दोष होने से लाभ तो सुख का कारण मालूम होता है और हानि दुःख का कारण मालूम होता है। ऐसे ही मोह का दोष होने से संयोग सुख का कारण मालूम होता है और वियोग दुःख का कारण मालूम होता है। अगर मोह रहित हो जाँय तो न तो संयोग में कोई सुख का भास होगा और न वियोग में कोई दुःख का भास होगा। इसी प्रकार आप देखिये, जब तक हम देहाभिमान को स्वीकार करते हैं तब तक सम्मान सुख का कारण मालूम होता है और अपमान दुःख का कारण मालूम होता है। यह जो सुख और दुःख हमको-आपको प्रतीत होता है इसके मूल में कोई परिस्थिति हेतु नहीं है, कोई अवस्था हेतु नहीं है, कोई वस्तु हेतु नहीं है। इसके मूल में हेतु है अपने देह का अभिमान। तो क्या इसका अर्थ यह है कि देह का नाश कर दिया जाय ? नहीं ! नहीं !! भाई, इसका अर्थ यह नहीं है। जिसको आप सुरक्षित नहीं रख सकते, जिसको आप अजर और अमर नहीं बना सकते उसके

नाश का प्रश्न ही जीवन में नहीं आता। देह तो जैसा है वैसा ही रहेगा, उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करना है। लेकिन एक बात अवश्य करना है कि उस देह को जो हम अपना मानते हैं अथवा अपने को जो देह मानते हैं, क्या यह मान्यता हमारे और आपके विवेक से सिद्ध है? आपके ज्ञान से यह बात सिद्ध है कि देह मेरा है अथवा देह 'मैं' हूं? अगर यह बात आपके ज्ञान से सिद्ध नहीं है तो जिस विश्वास में आपके ज्ञान का विरोध हो उस विश्वास का त्याग आवश्यक होता है।

तो यदि आज हम और आप एकान्त में बैठकर धीरज केसाथ शान्त-चित्त से केवल इसी प्रश्न पर विचार करें कि क्या सचमुच देह मेरा नहीं है? तो ये जो आपका ज्ञान है, इस ज्ञान का प्रभाव जब आपके जीवन पर होगा, आप सच मानिये, एक दीन से दीन, असमर्थ से असमर्थ, रोग युक्त प्राणी भी उस जीवन का अनुभव करेगा जो संसार के किसी भी व्यक्ति को मिला होगा। किन्तु दुःख की बात तो यह है कि हम बहुत कुछ जानते हैं, बहुत कुछ मानते हैं, बहुत कुछ सीखते हैं और बहुत कुछ सिखाते हैं; किन्तु जो अपने जीवन की मूल समस्यायें हैं उन पर बैठकर विचार नहीं करते। अगर उन पर बैठ कर हम विचार करने लग जाँय तो उसी का नाम मानव सेवा सङ्घ की भाषा में व्यक्तिगत सत्संग है अथवा पारिवारिक सत्संग हो जाता है। भाई, जब तक हम लोग व्यक्तिगत सत्संग नहीं करेंगे, आप सच मानिये, हम वास्तव में सत्संगी नहीं हो सकेंगे। व्यक्तिगत सत्संग करने के लिये किसी गुरू की आवश्यकता मालूम होती हो, किसी बाह्य ग्रन्थ की आवश्यकता मालूम होती हो, किसी वस्तु विशेष की आवश्यकता होती हो, किसी परिस्थिति विशेष की आवश्यकता होती हो, ऐसी

बात नहीं है। प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहिन स्वाधीनता पूर्वक व्यक्तिगत सत्संग कर सकते हैं। वह जो व्यक्तिगत सत्संग है कि जिसके द्वारा हम अपने जीवन में से अपने ज्ञान विरोधी विश्वासों को निकाल सकें, उसका परिणाम यह होगा कि हम और आप बड़ो ही सुगमता पूर्वक यह बात मान ही लेंगे कि हमारे सुख-दुःख का कारण कोई दूसरा नहीं है।

आप सोचिये, गम्भीरता से सोचिये कि यदि आज मानव-समाज यह बात मान ले कि भाई, हमारे सुख का कारण, हमारे दुःख का कारण कोई दूसरा हो नहीं सकता, तो आज जितने इतिहासकारों ने ऐसे इतिहास लिखे हैं जिनको सुन कर, जिनको पढ़ कर, जिनको मान कर कभी तो क्रोध की उत्पत्ति होती है, कभी पश्चात्ताप होता है—वह सारा क्रोध, सारा पश्चात्ताप अपने आप शान्त हो जाय और एक ऐसी जागृति जीवन में आये कि भाई ! जब हमारे सुख का कारण कोई है ही नहीं, हमारे दुःख का कारण कोई दूसरा है नहीं तो ये सुख-दुःख जीवन में हैं क्यों ? इसके उत्तर में आपको दो ही बातें मिलेंगी। एक तो ये बात मिलेगी कि भाई, सुख-दुःख से आप घबराते क्यों हैं ? सुख-दुःख से आप भयभीत क्यों होते हैं ? सुख-दुःख तो मंगलमय विधान से निर्मित एक परिस्थिति है। क्यों ? यदि ऐसा न होता तो मैं आपसे पूँछता हूँ कि क्या एक भी व्यक्ति नहीं होता सारे संसार में जिसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता था कि इसके जीवन में सुख-दुःख नहीं है ? हमें ऐसा तो कोई व्यक्ति मिला नहीं। तो सोचना चाहिये कि जो वस्तु सभी के लिये है उसमें विधान का भी हाथ होता है। वह विधान से निर्मित होती है। और विधान जो है, वह हम सबके लिये हितकर है, किसी के लिये अहितकर नहीं है।

देखिये, गम्भीरता से विचार कीजिये, विधान उसे नहीं कहते जो किसी के लिये भी अहितकर सिद्ध हो। विधान उसे भी नहीं कहते जो किसी वर्ग विशेष के लिये हो। जो किसी व्यक्ति विशेष के लिये हो, जो किसी देश विशेष के लिये हो, जो किसी काल विशेष के लिये हो, विधान उसे नहीं कहते। विधान वास्तव में उसे कहते हैं जो सर्व देश के लिये हो, सबके लिये हो और जिसमें किसी का अहित न हो। यह जो सुख-दुःख की प्राप्ति जो हमें-आपको दिखाई देती है वह विधान से निर्मित है। जब यह विधान से निर्मित है तो अब यह प्रश्न ही नहीं रहता कि जीवन में सुख-दुःख क्यों है। दूसरी बात और सोचिये—जीवन में सुख-और दुःख आता-जाता है, रहता नहीं है। रहता क्या है ? सुख का प्रलोभन और दुःख का भय। यह हमारे-आपके जीवन में रहता है। अहा ! उस दिन हमको बड़ा सुख मिला। उस दिन मिला, अब तो नहीं है ? कि अब तो नहीं है; लेकिन उसका प्रलोभन है। आप जानते हैं ? सुख का प्रलोभन जो है वह सुख के राग को जन्म देता है और सुख का राग जो है वह दुःख को जन्म देता है। यह बड़ा भारी सत्य है। जिसके जीवन में सचमुच सुख का राग नहीं है उसके जीवन में दुःख की उत्पत्ति ही नहीं होती। नहीं तो, आप ऐसा सुख बताओ जिसके मूल में दुःख न हो और जिसके अन्त में दुःख न हो। ऐसा कोई सुख बता ही नहीं सकते। समस्त सुखों के मूल में कोई-न-कोई दुःख रहता है और समस्त सुखों के अन्त में किसी-न-किसी प्रकार का दुःख रहता है।

तो सच पूछिये, जिस सुख का हम प्रलोभन करते हैं वह है क्या ? वह सुख के आदि और अन्त में दुःख हो और मध्य में एक दशा विशेष आती है जिसे हम सुख के नाम से कहते हैं। अब

आप कहें कि नहीं ! नहीं !! ऐसी दशा नहीं, सुख तो वस्तुस्थिति है। कैसी वस्तुस्थिति है ? कि हम औरों की अपेक्षा सुखी हैं, क्योंकि हमारे पास आवश्यक सामान है, हमारे पास आवश्यक योग्यता है, हमारे पास आवश्यक सामर्थ्य है। हम औरों की अपेक्षा सुखी हैं। तो हम कहेंगे कि भैया ! किसी की अपेक्षा दुःखी हो या नहीं ? आपको विवश होकर मानना पड़ेगा कि अगर आप किसी की अपेक्षा अपने को सुखी मानते हैं तो आपको विवश होकर किसी की अपेक्षा दुःखी मानना पड़ेगा। तब जब आप स्वयं दुःखी हैं तब आप कैसे कह सकते हैं कि हम सुखी हैं ? भाई, सुख जिसे आप कहते हो वह दुःख की देन है, वह दुःख का प्रभाव है। दुःख का एक प्रभाव होता है जिसे लोग सुख कहने लगते हैं। अब प्रश्न क्या है ? प्रश्न यह है कि सुख-दुःख से अतीत का जो जीवन है, सुख-दुःख की निवृत्ति में जो जीवन है, क्या उस जीवन को मानव-मात्र प्राप्त कर सकता है ? तो मेरा अपना ऐसा ख्याल है कि अवश्य कर सकता है। निःसन्देह कर सकता है। क्यों कर सकता है ? कि सुख-दुःख जो है वह साधन सामग्री है। परन्तु कब यह साधन सामग्री है ? जब हम सुख-दुःख का कारण किसी दूसरे को न मानें। या तो यह मानलें कि भाई, विधान से निर्मित सुख-दुःख आता ही है या यह मानलें कि भाई, इस सुख-दुःख का कारण कोई दूसरा नहीं है।

अब देखिये, बात और बड़ी सीधी, बड़ी सच्ची और बड़ी सरल। आज इसी क्षण से यदि हम और आप यह मानलें कि हमारे सुख-दुःख का कारण कोई दूसरा हो नहीं सकता तो जो हमारे चित्त में किसी के प्रति राग, किसी के प्रति द्वेष जो ठहरा हुआ है, चाहे वह कितना ही पुराना हो, वह अभी-अभी नाश हो

सकता है। और जब वह नाश हो जाता है तो आप सच मानिये कि राग के नाश होते ही योग की प्राप्ति और द्वेष के नाश होते ही प्रेम की प्राप्ति होती है। साधारण बात नहीं। मैं कभी-कभी अपने ईश्वरवादी मित्रों से कहा करता हूँ कि सच बताओ, तुम ईमानदारी से सभी को प्रेम कर सकते हो? तो सम्भव है कि तुम प्रभु से प्रेम कर सको। अगर किसी के प्रति भी तुम्हारे हृदय में प्रेम की कमी होती है या प्रेम तुम नहीं दे सकते हो तो तुम प्रभु से प्रेम तो नहीं कर सकते। प्राय: ऐसा कहता हूँ कि पतित से पतित प्राणी को भी तुम प्रेम कर सकते हो कि नहीं? बुरे से बुरे व्यक्ति को भी तुम प्रेम कर सकते हो कि नहीं? तो भाई, अगर कर सकते हो तो प्रभु-प्रेम के अधिकारी हो सकते हो। अगर आपको यह दिखाई देता है कि यह अच्छा आदमी है, यह बुरा आदमी है, यह हमारे प्रेम का अधिकारी है, यह हमारे प्रेम का अधिकारी नहीं है। वस्तुओं के सम्बन्ध में यदि आप किसी का अधिकार-अनाधिकार देखते तो कोई आपत्ति नहीं थी, लेकिन प्रेम के सम्बन्ध में भी! जरा हृदय पर हाथ धरके तो देखिये, आप भगवान् को तो मानते ही हैं, आत्मा को मानते ही हैं; ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या का पाठ पढ़ते ही हैं—शिबोहं और अहं ब्रह्मास्मि—का ध्यान करते ही हैं। लेकिन ईमानदारी से बताओ, जैसे तुम्हें अपने लड़के को देख कर प्रसन्नता होती है, जैसे तुम्हें अपने घर को देखकर प्रसन्नता होती है, क्या दूसरे को देखकर होती है? यदि होती है तो मैं यह कह सकूँगा कि कम-से-कम आपने अपने को इतना सुन्दर तो बना लिया है कि सारे विश्व के साथ एकता रख सकते हैं। सभी को प्रेम दे सकते हैं। तो जब आप सभी को प्रेम दे सकते हैं तब कहीं आपका उस सूची पर नाम लिखा जायेगा कि आप प्रेम के पथ पर चल सकते हैं।

आप कहेंगे कि क्या यह सम्भव है ? यह तो अप्राकृतिक है कि भाई, सभी को प्रेम किया जाय । अरे भाई, यह अगर अप्राकृतिक है तो आज सूर्य का प्रकाश उसको नहीं मिलता जिसको आप प्रेम नहीं दे सकते । आज वायु उसे स्वांस नहीं लेने देती जिसे आप प्रेम नहीं दे सकते । आज आकाश उसे अवकाश नहीं देता जिसे आप प्रेम नहीं दे सकते । परन्तु आप यह तो देख ही सकते हैं कि इन वस्तुओं का अधिकारी प्रत्येक प्राणी रहता है । सोचिये कि आपके पास पंच भूत के अतिरिक्त क्या वस्तु है ? भाई, जरा सोचो तो सही—जिस वाणी से आप बोलेंगे प्यार भरी बात, क्या वह वाणी समष्टि शक्तियों से निर्मित नहीं है ? जिन आँखों से आप प्रेम भरी दृष्टि से देखेंगे, क्या वे आँखें समष्टि शक्तियों से निर्मित नहीं है ? जरा विचार तो कीजिये । आपको मानना ही पड़ेगा कि आपके पास जो कुछ है वह समष्टि शक्तियों का है । समष्टि के नाते वह सबका है । लेकिन यह बात आप भूल जाते हैं और यह सोचने लगते हैं कि प्यार भरी वाणी तो उसी से बोलने की है जिससे हमारी ममता है । बस यही सर्वनाश की जड़ है । इसलिये भाई, आप अपनी वस्तु किसी को दीजिये या मत दीजिये, हमारे संघ की नीति में इस बात का बहुत ध्यान रखा जाता है कि जिसके करने में आपको जरा भी हिचक है, संघ की नीति कभी भी नहीं कहती कि आप कीजिये । अगर हम कहें कि आप अपना धन निर्धनों को दे दीजिये तो आपको हिचक लगेगी । परन्तु यदि हम आपसे कहें कि आप निर्धनों को भी प्यार दीजिये, निर्धनों को भी आदर दीजिये, उनका भी बुरा मत चाहिये तो बताइये, आपको कोई हिचक लगने की बात है ? इसमें आपकी कोई हानि होती है ? कोई हानि नहीं होती ।

यदि आप सभी को प्रेम दे सकते हैं तब आप सच मानिये, द्वेष से रहित हो सकते हैं। अथवा यों कहो कि जब आप द्वेष से रहित हो सकते हैं तब सभी को प्रेम दे सकते हैं। और द्वेष से रहित होने का उपाय ? सीधा-सादा, बड़ा सरल उपाय--अगर आप अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं मानते तो आपके हृदय में द्वेष की उत्पत्ति ही नहीं होगी। जब द्वेष की उत्पत्ति नहीं होगी तब जहाँ द्वेष निवास नहीं करता वहाँ प्रेम निवास करता है। ऐसे ही जहाँ राग निवास नहीं करता वहाँ त्याग निवास करता है। कहने का तात्पर्य यह था कि राग-रहित होने से योग की प्राप्ति होगी और द्वेष-रहित होने से प्रीति की अभिव्यक्ति होगी। अब योग क्या चीज है भाई ? किस योग की प्राप्ति होगी ? क्या प्राप्त होगा ? योग का असली अर्थ जो मैंने समझा है अभी तक, वह तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि योग का अर्थ है–पराश्रय का त्याग। 'पर' का जो आश्रय रहता है जीवन में, उसका त्याग। 'पर' का आश्रय नहीं रहता। जब 'पर' का आश्रय नहीं रहता तब भाई, किसका आश्रय होता है ? आप कहेंगे कि 'पर' का आश्रय तो 'पर' का ही है। सच पूछिये, आश्रय जो दिखाई देता है जीवन में, वह तो 'पर' का ही दिखाई देता है। जब 'पर' का आश्रय नहीं रहेगा तब हम निराश्रय हो जायेंगे। निराश्रय हो जायेंगे तब तो हमारा अस्तित्व ही नहीं रहेगा–ऐसा भय एक बार आता है जीवन में। कब आता है ? जब इस विचार की उत्पत्ति होती है कि भाई, हम पराश्रय को स्वीकार नहीं करेंगे। एक दम यह मालूम होता है कि जहाँ हम टिके हुए थे वह तो सब डूब गया, वह सब समाप्त हो गया।

एक घटना हम आपको सुनायें कि एक साधक आया किसी

सत्पुरुष के पास। तो आप जानते हैं? आजकल एक बात चलती है लोगों के मन में—वह यह कि कोई ऐसा गुरु मिल जाता जो हमारा ध्यान करा देता, जो हमारी समाधि करा देता, जो हमारे चित्त को शान्त कर देता। तो महापुरुष कोई-कोई करुणित होकर ऐसा कर भी बैठते हैं। यद्यपि ऐसा करने से कोई विशेष लाभ नहीं होता, पर कर बैठते हैं। एक महा-पुरुष कर बैठे—सो जो उसके चित्त का आधार टूटा, एक दम दृश्य का आधार टूटा—वह एक दम घबरा कर खड़ा होगया। बोला, महाराज जी, मैं नहीं करूँगा ध्यान। क्यों-क्यों क्या बात हो गई? तुम तो ध्यान करना चाहते थे। बोले, महाराज जी! सब डूब गया, सारा संसार डूब गया। वह तो एक दम घबरा गया, काँप गया। आप विचार करके देखेंगे, यही दशा तब होती है जब आपकी कोई प्रिय वस्तु नाश होती है। आपके पास बहुत सी वस्तुऐं हैं, बहुत से आपके साथी हैं; लेकिन बहुत-सी वस्तुओं में से कोई एक वस्तु, बहुत से साथियों में से कोई भी एक साथी जिस वक्त आपसे अलग होता है या जिस वक्त उसका नाश होता है तो आप एक दम इतने अधीर क्यों हो जाते हैं? आप इतने घबरा क्यों जाते हैं? यह बात नहीं कि वस्तु के नाश होने से घबराहट हुई। आपका वह आश्रय बना हुआ था, वह आश्रय टूटता है। जब अनेक आश्रय में से एक आश्रय टूटने पर आदमी अस्तव्यस्त हो जाता है तो जब सभी आश्रय टूटते होंगे तब क्या दशा होती होगी? वहाँ एक बड़ी विचित्र दशा होती है। और इस दशा को सहन करने ही के लिये वैराग्य की बात पहले ही से सिखाई जाती है, ज्ञान की बात पहले ही से सिखाई जाती है, प्रभु विश्वास की बात पहले ही से सिखाई जाती है। जहाँ कहीं निराश्रयता आ जाय तो आदमी घबरा न जाय।

तो इस निराश्रय का जो आरम्भ काल है वह बड़ा ही भय देने वाला होता है, लेकिन वह भय है बिल्कुल निरर्थक। मिथ्या भय है। इसमें वास्तविकता कुछ नहीं है। तो भाई, निराश्रय होते ही एक स्वाश्रय मिलता है। स्वाश्रय का अर्थ बहुत से लोग तो यह मान लेते हैं कि आत्मरति, आत्मतृप्ति, आत्मसंतुष्टि। यह भी स्वाश्रय का अर्थ है। लेकिन इससे भी विचित्र एक स्वाश्रय का अर्थ मुझे ऐसा मालूम होता है—'स्व' कहते हैं 'अपने को' और 'अपने को' उसे कह सकते हैं जो किसी भी प्रकार से दूर हो ही नहीं सकता। जो हमसे किसी भी हेतु से दूर नहीं हो सकता और हम जिससे दूर नहीं हो सकते। जो हमारा त्याग नहीं कर सकता, हम जिसका त्याग नहीं कर सकते। तो जिसका त्याग हम कर ही नहीं सकते, जो हमारा त्याग कर ही नहीं सकता, जिससे हमारी दूरी हो ही नहीं सकती—उसका आश्रय प्राप्त होता है। उसे अन्तरात्मा भी कह सकते हैं। उसे आप विश्वात्मा भी कह सकते हैं। उसे आप सर्वाधार भी कह सकते हैं। उसे आप सर्व का ज्ञाता भी कह सकते हैं। न जाने क्या-क्या कह सकते हैं। जितना भी कह सकते हैं उससे उसका पूरा अर्थ व्यक्त होता हो, ऐसा मैं नहीं मानता हूँ। लेकिन हाँ, आंशिक अर्थ उससे व्यक्त होता है। तो वह जो 'स्व' का आश्रय है वह स्व का आश्रय सामर्थ्य देने वाला है, जीवन देने वाला है, स्वाधीनता देने वाला है, दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्न कर देने वाला है। तो वह 'स्वाश्रय' हमको और आपको अभी-अभी मिल सकता है। क्यों? जब राग-द्वेष नहीं रहा तब चित्त के लिये आने-जाने के लिये कोई स्थान ही नहीं रहा।

ये जो हमारे बहुत से भाई कहा करते हैं कि क्या बतायें! हमारा मन तो ठहरता ही नहीं है। यह जो वर्णन है यह

सैद्धान्तिक वर्णन नहीं है। यह वस्तुस्थिति का वर्णन है। यह एक दशा का वर्णन है कि हमारा मन ठहरता ही नहीं है, कि हमारा मन हमारे आधीन रहता ही नहीं है। यह बात ठीक है—अरे भाई, तुमने राग-द्वेष को तो कर लिया है जमा। राग-द्वेष इसलिये जमा नहीं होता कि तुम्हें सुख-दुःख भोगना पड़ता है। राग-द्वेष जमा इसलिये होता है कि आप इसका कारण दूसरे को मान लेते हैं। अथवा आप सुख-दुःख को मंगलमय विधान से निर्मित नहीं मानते हैं। इन सब कारणों से राग-द्वेष जमा होता है। राग-द्वेष के रहते हुए आज तक न किसी का चित्त शान्त हुआ और न शुद्ध हुआ और न स्थिर हुआ और न होने की सम्भावना है। हो ही नहीं सकता। जैसे कोई ड्राइवर हो, गाड़ी को स्टार्ट तो कर दे और फिर रोये कि हाय-हाय रे ! गाड़ी ठहरती ही नहीं, कि हाय-हाय रे ! गाड़ी ठहरती ही नहीं। आप कहेंगे कि पागल होगया है। स्टार्ट कर दिया है, बन्द कर दे, गाड़ी ठहर जायेगी। उसी तरह की यह बात है कि हमने राग-द्वेष को तो रख लिया है जमा, फिर कहते हैं कि हमारा चित्त ठहरता ही नहीं, हाय-हाय रे ! हमारा चित्त शान्त होता ही नहीं। तो कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि इसलिये भाई, यह जीवन का एक मौलिक प्रश्न है कि जो हम और आप दिन-रात सोचते रहते हैं कि साहब, अमुक व्यक्ति के द्वारा हमें बड़ा सुख मिला, अमुक वस्तु से हमें बड़ा आराम मिला और अमुक वस्तु से हमें बड़ा कष्ट मिला, यह सोचना बिल्कुल निरर्थक है और अपना जाना हुआ असत् है।

इसलिये भाई, इसका त्याग करके आज हम सब को यह व्रत लेना चाहिये कि हमारे सुख का कारण, हमारे दुःख का

कारण कोई और नहीं हो सकता। और जीवन में जो सुख और दुःख है वह साधन सामग्री है। उसी के सदुपयोग से हम सुख-दुःख से अतीत के जीवन को प्राप्त कर सकते हैं। इस दृष्टि से आये हुए सुख का भी आदर करना है और आये हुए दुःख का भी आदर करना है। न सुख का प्रलोभन रखना है, न दुःख से भयभीत होना है। यह क्या है? यह है—साधन प्रणाली। इस साधन प्रणाली के अनुसार जब हम निराश्रय होकर 'स्वाश्रय' को प्राप्त होते हैं तब फिर प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहती। प्रयत्न-रहित साधन। आप जानते हैं? जैसे-जैसे प्राणी अप्रयत्न होता जाता है वैसे ही वैसे अभिन्न भी होता चला जाता है। वैसे ही वैसे अभेद भी होता चला जाता है। क्योंकि अप्रयत्न में ही अभिन्नता और अभेदता है। लेकिन क्यों भाई! प्रयत्न के रहते हुए हम अभिन्न क्यों नहीं हो पाते? हमारे भेद नाश क्यों नहीं होते? क्योंकि प्रयत्न में अहंकृति हेतु होती है। अहं रूपी अणु प्रयत्न के साथ लगा रहता है। अहं रूपी अणु जब तक जीवन में रहेगा तब तक न तो भिन्नता का नाश होगा और न भेद का नाश होगा; और जब तक भेद और भिन्नता का नाश नहीं होगा तब तक न निश्चिन्तता आयेगी न निर्भयता आयेगी और न आत्मीयता आयेगी।

आप जानते हैं? कि निश्चिन्तता के बिना आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होती, निर्भयता के बिना प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय नहीं होता और आत्मीयता के बिना परम प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। अब आप सोचिये कि क्या आज हम निश्चिन्तता, निर्भयता, आत्मीयता प्राप्त करने में भी असमर्थ होगये! इसमें भी हम पराधीन हो गये! अरे भाई, पराधीनता

बड़ी-बड़ी कोठी बनाने में हो सकती है। पराधीनता बहुत सा सामान इकट्ठा करने में हो सकती है। पराधीनता दूसरों के विनाश करने में होसकती है, दूसरों से कुछ प्राप्त करने में हो सकती है। लेकिन क्या आज हम निश्चिन्त भी नहीं हो सकते ? क्या आज हम निर्भय भी नहीं होसकते ? क्या आज हमें आत्मीयता भी प्राप्त नहीं हो सकती ? अवश्य मिल सकती है, किन्तु आज हमने स्वयं अपने प्रमाद से अपनी निश्चिन्तता को भंग किया है। अपने प्रमाद से अपने को भयभीत किया है और आत्मीयता से विमुख हुए हैं। नहीं तो भाई, ये तीनों बातें हर भाई को हर एक बहिन को सदैव प्राप्त हो सकती हैं और इनके प्राप्त होने पर जिस जीवन में हमारा प्रवेश होता है, यह वही जीवन है जो संसार के किसी भी मानव को मिला हो अथवा भविष्य में किसी भी मानव को मिले। इस दृष्टि से मानव-मात्र समान है।

(ब)

किन्तु अगर हम इस बात को छोड़कर परिस्थितियों के आधार पर समानता की खोज करें, वस्तुओं के आधार पर समानता की खोज करें तो नहीं कर सकते। तो आज हमें और आपको इस मौलिक प्रश्न पर बहुत गम्भीरता से विचार करना है कि हम अपने सुख-दुःख का कारण जो दूसरों को मानते हैं, वह नहीं मानेंगे, नहीं मानेंगे, नहीं मानेंगे। और इस बात को स्वीकार करने का जो फल होगा, सच पूछिये उसका महत्व मैं व्यक्त नहीं कर सकता। और न आप किसी के व्यक्त किये हुए महत्व को जान सकते हैं। यह तो जब आप प्राप्त कर लेंगे तभी उस महत्व को जानेंगे और इस महत्व को जानकर आपको एक पश्चात्ताप होगा और एक हंसी आयेगी कि हाय ! हाय !! ऐसा सुनहरा मानव जीवन ! ऐसा सुन्दर मानव जीवन ! जिसको हमने केवल इस भूल से बरवाद कर दिया कि हमारे सुख का कारण अमुक वस्तु है, अमुक व्यक्ति है, इत्यादि-इत्यादि। कहने का तात्पर्य यह था कि देखिये, साधन में एक बात का बड़ा ध्यान रखना चाहिये कि आप यह बात मत सोचिये कि हम बहुत भारी-भारी साधन करेंगे, बहुत बड़े-बड़े साधन करेंगे। कुछ नहीं कर पावेंगे। आप केवल एक बात अपने सामने रखिये कि कोई भी साधन का एक अंश आप स्वीकार कीजिये। स्वीकार करके उसको जीवन में रखिये।

देखिये, साधन का जीवन में रखना श्रम-साध्य नहीं है।

साधन का जीवन में रखना स्वीकृति-साध्य है। जहाँ आपने यह स्वीकार कर लिया कि अब हम किसी को भी अपने सुख-दुःख का कारण नहीं मानेंगे। अब यहाँ कोई भाई तर्क कर सकता है कि भई, यह कैसे बात होसकती है जबकि हम इन्द्रियों के द्वारा जानते हैं कि अमुक व्यक्ति हमको दुःख दे रहा है। और हम जानते हैं कि अमुक व्यक्ति से हमको सुख मिल रहा है— मैं तो यह भी कह दूँगा कि इस जानकारी को आप मिथ्या मान लीजिये, झूठ मानिये, अपनी इन्द्रियों के ज्ञान का धोखा मानिये। बोले क्यों? मैं पूछता हूँ कि अगर आप गम्भीरता से इस बात पर विचार करें कि अमुक वस्तु हमें सुख दे सकती है— रसगुल्ला खाने से हमें बड़ा सुख मिला—मैं पूछता हूँ भूख न होती तो? उस वक्त जी मिचला रहा हो तो सुख मिलता? नहीं मिल सकता था। एक बात। दूसरी बात सोचिये—वस्तु जो मिलती है वह किसी विधान से न! मिलती है। विधान जो बनता है वह हमारे हित को लेकर न! बनता है। अगर आपको सुख मालूम भी होता है कि अमुक व्यक्ति ने हमें सुख दिया और आपको मालूम भी होता है कि अमुक व्यक्ति ने हमें दुःख दिया तो भी आपको यही सोचना चाहिये कि यह तो ऊपरी बात है।

सुख-दुःख तो किसी और के द्वारा भेजा हुआ है और जिसके द्वारा भेजा है वह हमारा अपना ही है। किसलिये भेजा है? तो सदुपयोग के लिये भेजा है। क्यों भेजा है? कि अगर सदुपयोग नहीं करेंगे तो सुख-दुःख से अतीत का जो जीवन है उसमें प्रवेश नहीं होगा। यह सुख-दुःख तो हमारे विकास में हेतु है। हमारे अपने प्यारे का भेजा हुआ है। जिस प्यारे का भेजा हुआ सुख-दुःख है, अगर उसमें आपकी दृष्टि है तो बताइये कि सुख के

उपयोग में, दुःख के उपयोग में आपको कोई कठिनाई होगी ? कोई कठिनाई नहीं होगी। आज हमसे भूल क्या होती है कि सुख-दुःख का भोग करने लगते हैं, उसका उपयोग नहीं करते। उसे साधन-सामग्री नहीं मानते। उसे अपना जीवन मान लेते हैं और ये मान लेते हैं कि मानो ये जबरदस्ती हमारे ऊपर लाद दिया गया है। बात वास्तव में ऐसी नहीं है। यदि आज हमारे मन में बोलने का राग न होता तो श्रोता के रूप में प्रभु कभी नहीं आते। अगर आपके मन में सुनने का राग न होता तो कोई वक्ता कभी नहीं आता। यह नियम ही है। तो जो कुछ आपको मिलता है आपकी राग-निवृत्ति के लिये मिलता है और जो कुछ छिनता है वह भी सरकार ! राग-निवृत्ति के लिये छिनता है। राग-निवृत्ति के लिये ही सुख-दुःख का उपयोग है और इसका कोई उपयोग नहीं है, भाई। इसलिये भाई ! राग-रहित होने में हम लोग तत्पर हो जायँ। धीरे-धीरे नहीं, अभी। अगर इस कार्य को आप धीरे-धीरे करेंगे तो समझता हूँ, नहीं कर पायेंगे। अगर आप अभी करना पसन्द करेंगे तो प्रत्येक भाई कर सकता है। वस्तु न मिले लेकिन वस्तु का राग मिटा सकते हैं। मिटा सकते हैं कि नहीं मिटा सकते ?

तो भाई ! राग-रहित होने का उपाय क्या है ? द्वेष रहित होना और द्वेष-रहित होने का उपाय क्या है ? अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं मानना। जो अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं मानता है वह अपने सुख का कारण भी भी किसी और को नहीं मानता है। ऐसे ही जो अपने सुख का कारण किसी और को नहीं मानता है वह अपने दुःख का कारण भी किसी और को नहीं मानता है। इन दोनों में से जो भी आपको सुगम मालूम हो – कि हम आज से अपने दुःख का

कारण किसी और को नहीं मानेंगे। अगर यह बात भी आपको मालूम होजाय तो भी आप बड़ी सुगमता पूर्वक द्वेष से रहित होकर प्रेम की प्राप्ति करेंगे। और जब आपको यह बात मालूम होजाय कि अगर हमारे सुख का कारण कोई वस्तु हो ही नहीं सकती, कोई व्यक्ति हो ही नहीं सकता। सारी सृष्टि मिलकर हमें सुख दे ही नहीं सकती। क्यों ? हमारी जो वास्तविक मांग है, हमारी जो आवश्यकता है उसकी पूर्ति में सृष्टि सर्वदा असमर्थ है। आप कहेंगे कैसे ? विचार तो कीजिये कि सारी सृष्टि में कौन-सी वस्तु आपको ऐसी मालूम पड़ती है जो स्वयं-प्रकाश हो, जिसमें परिवर्तन न हो, जिसका वियोग न हो ? है कोई ऐसी वस्तु ? किसी भाई-बहिन को मालूम होती है ? नहीं मालूम होती। नहीं है। जब नहीं है तब पर-प्रकाश्य वस्तु स्वयं-प्रकाश को महत्व प्रदान करेगी ? जरा सोचिये।

आज तो महाराज ! उल्टी गङ्गा बह गई। मानव-जीवन तो इतना सुन्दर जीवन था कि जिससे वस्तु आदर पाती थी। महाराज ! आज कितना दुःख होता है कि आज का मानव वस्तु के आधार पर सोचता है कि हमारा महत्व होगया। इस प्रमाद ने मानव को मानव नहीं रहने दिया और भाई मेरे, जब तक मानव, मानव नहीं हो पाता तब तक न उसे चिर-शान्ति मिलती है, न उसकी सद्गति होती है और न उसे प्रभु की प्राप्ति होती है। यह निर्विवाद सत्य है। इसलिये भाई, आज आप वस्तुओं के द्वारा जो अपना महत्व आंकते हैं, मत आंकिये अपितु अपने द्वारा प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग कीजिये जिससे वस्तु का महत्व बढ़े, व्यक्ति का महत्व बढ़े, लेकिन आप जो यह सोचने लगते हैं कि हाय ! हाय रे ! हमारे पास वस्तु नहीं होगी तब

तो हम संसार के आदमी नहीं रह सकते। और अगर रह भी सकते हैं तो अभागे हैं, दीन हैं, दुःखी हैं। मैं सच कहता हूँ कि वस्तु को अपने से अधिक महत्व देने वाला व्यक्ति चाहे अरबपति हो, खरबपति हो, महादीन है ! महादीन है !!! क्यों ? अरे भई, इससे बढ़कर क्या दीनता होगी ? कि वह जो जवाहरात पत्थर का टुकड़ा है, जो कि यह नहीं कह सकता कि मैं जवाहरात हूँ, उसको पहन कर आप यह समझते हैं बड़े आदमी होगये ! तो वह पत्थर का टुकड़ा बड़ा आदमी हुआ महाराज ! लोहे-लंगड़ में बैठकर आप कहते हैं हम बड़े आदमी होगये। ईंट, मिट्टी में कैद होकर आप कहते हैं हम बड़े आदमी होगये। कीड़ोके पाखाने को पहन कर आप कहते हैं कि हम बड़े आदमी होगये। जानवरों की ऊन पहनकर आप कहते हैं कि हम बड़े आदमी होगये। मल-मूत्र-पूर्ण शरीर को सजाकर आप कहते हैं कि हम बड़े आदमी होगये। सोचिये तो सही, यदि मल-मूत्र-पूर्ण शरीर को सजाने से बड़े आदमी होते हैं तो मैं तो ऐसे बड़प्पन को भाई, नमस्कार करता हूँ।

आप सोचिये ! आपका एक अपना बड़ापन है। आपका एक अपना महत्व है। आपकी एक अपनी सुन्दरता है। और वह सुन्दरता राग-द्वेष रहित हुए बिना प्राप्त नहीं होती। इसलिये भाई, आज इस जीवन के आवश्यक प्रश्न पर विचार करना होगा कि हम और आप कैसे बड़े आदमी हो सकते हैं ? आदमी तो बड़ा होता ही है। क्या बड़ापन हमारा होसकता है ? वह बड़ापन है चिर-शान्ति की अभिव्यक्ति में। वह बड़ापन है अमरत्व की अभिव्यक्ति में। वह बड़ापन है परम प्रेम की अभिव्यक्ति में। जिसकी प्राप्ति में मानव-मात्र सर्वदा स्वाधीन

है। कभी पराधीन हुआ नहीं। कभी पराधीन होसकता नहीं। क्यों ? उससे जातीय एकता है, स्वरूप की एकता है। जिससे हमारी जातीय एकता है, स्वरूप की एकता है उसकी प्राप्ति में हम कभी भी पराधीन नहीं हैं और जिससे हमारी मानी हुई एकता है, जातीय एकता नहीं है उसकी प्राप्ति में हम कभी भी स्वाधीन नहीं हैं।

इतना ही नहीं, मानी हुई एकता से जब हम अपना महत्व आंकते हैं तब हमारा महत्व यही होता है कि वस्तु की एकता से महत्व होता है लोभ की उत्पत्ति। व्यक्ति की एकता से महत्व होता है—मोह की उत्पत्ति और परिस्थितियों की एकता से महत्व होता है -परिच्छिन्नता की अभिव्यक्ति। और यह जो परिच्छिन्नता जीवन में आगयी, मोह आगया, लोभ आगया, काम आगया, तो क्या आप समझते हैं कि यही महत्वपूर्ण जीवन है ? अगर यही महत्वपूर्ण जीवन है तो भाई, निन्दनीय जीवन कौन-सा होसकता है ? मैं तो नहीं समझ सकता कि इसके अतिरिक्त कोई निन्दनीय जीवन होसकता है। तो भाई, हमें और आपको इस बात पर विशेष ध्यान देना है कि हमारा अपना जो महत्व है, हमारी जो वास्तविक सुन्दरता है उससे विमुख न हों। उस रहस्य को न भूलें। हमारा जो वास्तविक महत्व है उसे न भूलें। हमारा आपका महत्व है—राग-द्वेष-रहित होने में। राग-द्वेष-रहित होकर हम और आप अपनी वास्तविक सुन्दरता को भी जान सकते हैं, अपने वास्तविक महत्व को भी जान सकते हैं। और उसके प्राप्त करने का उपाय है एक-मात्र अपने सुख-दुःख का कारण किसी दूसरे को न मानना।

यह बात जब हम और आप स्वीकार करलें तो उसके

पश्चात् क्या होगा ? कि जो चित्त इधर-उधर भटक रहा था—सुख की आशा के लिये और दुःख से बचने के लिये—वह चित्त सब ओर से हटेगा और हट करके अपने आप, अपनी ओर बढ़ेगा। अपनी माने—'स्व' की ओर बढ़ेगा। जैसा-जैसा चित्त 'स्व' की ओर बढ़ता जायेगा, वैसा-ही-वैसा चित्त सुन्दर भी होता जायेगा और स्वस्थ भी होता जायेगा। सच पूछिये तो समर्थ भी होता जायेगा। और जैसा-जैसे चित्त समथं होता जायेगा, वैसे ही वैसे वास्तविक जीवन से जो दूरी मालूम होती है, भेद मालूम होता है, वह दूरी और भेद मिटता जायेगा। दूरी और भेद के मिटते ही जो आज यह मालूम होता है कि यह हमारा चित्त है वह बिभु होजायेगा। विभु होने से वह जो आपकी सुन्दरता है, वह जो आपकी महत्ता है, वह महत्ता, वह सुन्दरता भी विभु होजायेगी। जब वह महत्ता और सुन्दरता विभु होजायेगी तो सच मानिये, समस्त विश्व में सुन्दरता की अभिव्यक्ति होने लगेगी तब फिर सुन्दरता से भिन्न और कुछ रह ही नहीं जायेगा। सुन्दरता कहते किसको हैं ? जिसका त्याग न कर सकें। बहुत से भाई कहते हैं कि यह स्थान बड़ा सुन्दर है, लेकिन थोड़े दिन बाद चलने लगते हैं। हम उनसे पूछते हैं भैया ! सुन्दर छोड़ कर क्यों जाते हो ? कहते हैं—अब नहीं रह सकते। तो असुन्दर होगया न ? जिसका आप किसी भी प्रकार से त्याग कर सकते हैं वह सुन्दर नहीं होसकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि हमें उसको प्राप्त करना है कि जिसका हम त्याग कर ही नहीं सकते। जरा सोचिये, जिसका आप त्याग कर ही नहीं सकते क्या उसमें प्रेम नहीं होगा ? क्या उससे योग नहीं होगा ? क्या उसका बोध नहीं होगा ? अवश्य होगा।

किन्तु जब तक हम उसकी ओर देखते हैं जो हमारा त्याग

करता है, जरा ध्यान दीजिये, तब तक भाई, हमारी गति-विधि उस ओर हो ही नहीं सकती जिसमें अनन्त सौन्दर्य है। अनन्त सौन्दर्य की ओर हम तभी मुड़ सकते हैं कि जब हम उसकी ओर न देखें जो हमारे बिना रह सकता है। अब आप बिचार कीजिये कि आपके बिना कौन रह सकता है ? तो आपके बिना वही रह सकता है जो अपने को अपने आप प्रकाशित करने में हेतु नहीं है, समर्थ नहीं है। अपने को अपने आप प्रकाशित करने में कौन समर्थ नहीं है ? आपका प्यारा हाथ, आपकी प्यारी इन्द्रियाँ, आपका प्यारा प्राण, आपका प्यारा मन, आपकी प्यारी बुद्धि अपने को अपने आप प्रकाशित करने में समर्थ नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि इन सबके बिना हम रह सकते हैं, ये हमारे बिना रह सकते हैं। एक आपको विचित्र बात बतायें—जिस समय आप इन सबके बिना रह सकते हैं, और आप जब अपनी ममता का पत्थर इन सब पर से हटा लेते हैं तब मालूम है क्या होता है ? एक ऐसे अलौकिक जीवन की अभिव्यक्ति होती है कि ये सब अपना भेष बदल-बदल कर अपने अस्तित्व को खो-खोकर आपके अस्तित्व से अभिन्न होने लगते हैं। जब ये आपके अस्तित्व से अभिन्न होने लगते हैं तब आप फिर क्या होते हैं ? तो आप अनन्त की प्रीति होजाते हैं। क्यों ? इनके संयोग से आप होगये आसक्त और इनके वियोग से आप होजायेंगे प्रीति। तो आपका अस्तित्व क्या हुआ ? उस अनन्त की प्रीति। प्रीति जिसकी होती है उसी की जाति की होती है।

लेकिन एक उसमें विलक्षणता होती है प्रीति में। वह क्या ? कि प्रीति मिली रहती है। प्रीति का नित्य योग रहता है। नित्य-योग रहने पर भी नित्य-वियोग भी रहता है। नित्य-योग से

क्या होता है ? नित्य-योग से चिर-शान्ति मिलती है, अमरत्व मिलता है, दिव्य-चिन्मय जीवन मिलता है। और नित्य-वियोग से क्या मिलता है ? बोले, नित्य-वियोग से अगाध-अनन्त रस की अभिव्यक्ति होती है। अगाध-अनन्त रस की अभिव्यक्ति, दिव्य-चिन्मय-जीवन की प्राप्ति मानव-मात्र को हो सकती है। और उसका सीधा-सादा उपाय क्या निकला ?–राग-द्वेष-रहित होना। राग-द्वेष रहित होने का उपाय क्या निकला ?—अपने सुख-दुःख का कारण किसी और को न मानना। इतना सहज साधन और इतना सुगम साधन भी यदि हम नहीं कर सकते तो क्या साधन कर सकते हैं ? आज हम बड़े-बड़े तप करने की सोचते हैं, बड़े-बड़े जप करने की सोचते हैं, बड़े-बड़े अनुष्ठान करने की सोचते हैं, बड़े-बड़े दान करने की सोचते हैं। लेकिन यह भी कभी सोचते हैं ? कि ये जो हम कर रहे हैं यह अपने द्वारा कर रहे हैं ? कि प्राप्त वस्तुओं के द्वारा कर रहे हैं ? कि प्राप्त व्यक्तियों के द्वारा कर रहे हैं ? आपको मानना पड़ेगा कि जो वस्तुओं के द्वारा आप कर रहे हैं, जो व्यक्तियों के द्वारा जो आप कर रहे हैं वह आपकी चीज नहीं है। आपकी चीज तो वही होसकती है जिसे आप अपने द्वारा कर सकें। अपने आप हम और आप यही कर सकते हैं कि अपने दुःख का कारण किसी और को न मानें। हम अपने सुख का कारण किसी और को न मानें। यह बात प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन अपने द्वारा कर सकता है। इस बात को करने के लिये हाथ हिलाने की जरूरत नहीं, पैर हिलाने की जरूरत नहीं, कुछ सोचने और समझने की जरूरत नहीं। यह बात तो हम और आप अपने ही द्वारा कर सकते हैं। जो साधन अपने द्वारा कर सकते हैं उस साधन के करने में पराधीनता नहीं रह सकती।

दूसरी बात है कि अपने द्वारा जो साधन किया जायेगा उसका फल अपने ही को मिलेगा। और दूसरों के द्वारा जो साधन किया जायेगा उसका फल दूसरों को ही मिलेगा। विचार कीजिये — वस्तुओं के सदुपयोग से आपको बहुत सी चीजें मिल जाती हैं। वस्तुओं के द्वारा वस्तु की ही प्राप्ति न ! हुई। जब वस्तु की प्राप्ति हुई तब वस्तु तो आपको प्राप्त थी ही। यही न ! कहेंगे कि मात्रा कम थी वह बढ़ गई। मात्रा अधिक-कम होने से कोई वास्तविकता में अन्तर नहीं होता। कोई वास्तविकता में अन्तर होता तो आज तक हमें कोई न कोई धनी ऐसा मिलता जो कह देता कि अब हम धन का उपार्जन नहीं कर रहे हैं। हमें तो सच पूछिये, वास्तविकता की दृष्टि से एक साधारण मजदूर और मिल-ओनर एक मालूम होता है। मजदूर भी सोचता है कि पैसे कुछ बढ़ जायँ। मिल-आनर भी सोचता है कि पैसे कुछ बढ़ जायँ। किसान भी सोचता है कि हमारे खेत की पैदा हुई वस्तु मंहगी बिके और मिल-ओनर भी। हमें तो वस्तु-स्थिति में कोई अन्तर नहीं मालूम होता। क्यों ? वह जो अपने द्वारा जो चीज नहीं की गई है उसका फल समान रहता है। अतः साधन वही सार्थक सिद्ध होता है जो अपने द्वारा किया जाता है। अपने द्वारा किये साधन में दो-तीन बातें हो सकती हैं। पहली बात तो यही हो सकती है कि हम किसी को अपने सुख-दुःख का कारण न मानें—यह अपने द्वारा होसकता है। दूसरा कि भाई, हम किसी में श्रद्धा करलें — यह भी अपने द्वारा होसकता है। अथवा हम किसी की ममता तोड़ दें—यह अपने द्वारा होसकता है। तो ममता-रहित होना अपने द्वारा होसकता है, किसी में श्रद्धा करें—यह अपने द्वारा होसकता है। अपने सुख-दुःख का कारण किसी और को न मानें—यह अपने द्वारा

होसकता है। किसी का बुरा न चाहें—यह अपने द्वारा होसकता है। सभी का भला चाहें—यह अपने द्वारा होसकता है।

कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि जो साधन अपने द्वारा होता है उसी साधन से सिद्धि होती है। जो साधन अपने द्वारा नहीं होता, पराश्रय से होता है, उस साधन से बाह्य-विकास तो दिखाई देता है लेकिन अपने को कुछ नहीं मिलता।

इसलिये भाई, आज हमें और आपको अपने द्वारा साधन करने की बात भी सोचना चाहिये। और विचार करना चाहिये कि भाई, कल्पना करो कि हमारे में बोलने की शक्ति न रहे तो भी साधन कर सकते हैं कि नहीं! सुनने की शक्ति न रहे तब हम साधन कर सकते हैं कि नहीं! देखने की शक्ति न रहे तब हम साधन कर सकते हैं कि नहीं! हमारे पास कोई बाह्य वस्तु न रहे तब हम साधन कर सकते हैं कि नहीं! हाथ-पैर न रहें तब साधन कर सकते हैं कि नहीं—इस प्रकार से जब आप विचार करेंगे और जब आप इस निर्णय पर पहुँच जायँ कि हां, कर सकते हैं तो वह जो साधन होगा उस साधन में लेश-मात्र भी पराधीनता नहीं होगी। जिस साधन में पराधीनता नहीं होती उस साधन में असमर्थता नहीं होती, उसके करने में बहुत सुविधा रहती है। जिसके करने में बहुत सुविधा रहती है। वह कभी भी असिद्धि देने वाला नहीं होता। इसलिये भाई, अपने द्वारा हम क्या कर सकते हैं? इस पर विचार करने की जरूरत है। इसका निर्णय आप जितनी जल्दी कर लेंगे, जितना इसको अपना लेंगे, उतनी ही जल्दी आपको सिद्धि होजायेगी। बहुत से लोग सोचते हैं कि सिद्धि कितने दिन में होगी! कितने समय में होगी! सच ईमान-

दारी की बात तो यह है कि सिद्धि समय पर निर्भर नहीं है। चूँकि हम लोग जीवन में समय के अस्तित्व को स्वीकार करके क्रियात्मक साधन के आधार पर समय का महत्व मानते हैं। वास्तव में सिद्धि के लिये कोई समय अपेक्षित नहीं है। क्या अपेक्षित है? कि जब हम और आप अपना जाना हुआ असाधन छोड़ देंगे बस साधन की अभिव्यक्ति होजायेगी और जहाँ साधन की अभिव्यक्ति होजायेगी वहां सिद्धि होगी।

मैं ऐसा मानता हूँ कि असाधन का त्याग, साधन की अभिव्यक्ति और सिद्धि युगपद् है। इसलिये भाई, हम सब जब चाहें तब सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु यह बात इसलिये समझ में नहीं आती कि हम लोगों ने सिद्धि के सम्बन्ध में न जाने क्या-क्या सुन रखा है। साधन के सम्बन्ध में न जाने क्या-क्या सुन रखा है। सीधी-सादी बात है भाई, सिद्धि का असली अर्थ क्या है?–नित्य-योग की प्राप्ति। सिद्धि का असली अर्थ क्या है?–अमरत्व की प्राप्ति। सिद्धि का असली अर्थ क्या है?–परम-प्रेम की प्राप्ति। तो मैं आपसे पूछता हूँ कि नित्य-योग की प्राप्ति क्या कालान्तर में होगी? अगर कालान्तर में होगी तो अब योग नहीं है तो फिर योग कैसे होगा? अमरत्व की प्राप्ति क्या उसके द्वारा होगी जो अब नहीं है? क्या प्रेम की प्राप्ति उसके द्वारा होगी जो अब नहीं है? मानना ही पड़ेगा—कि प्रेम 'है' से ही हुआ करता है। योग 'है' का ही हुआ करता है। बोध 'है' का ही हुआ करता है।

तो भाई, जो 'है' अब उससे योग करना है। जो 'है' उसका बोध होना है। जो 'है' उसमें प्रेम होना है। तो योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति वर्तमान की वस्तु है। किन्तु हो क्यों नहीं पाता?

इसका एक-मात्र कारण यही है कि राग-द्वेष रहित नहीं होते। और राग-द्वेष-रहित क्यों नहीं होते ? कि अपने सुख-दुःख का कारण दूसरों को मानते हैं। इस दृष्टि से हमें और आपको बड़े धीरज के साथ, बड़ी गम्भीरता के साथ आज इस समस्या को हल करना है कि भाई अब हम कभी भी अपने सुख-दु.ख का कारण किसी दूसरे को नहीं मानेंगे। यह जो आपका मानना होगा इसमें एक वड़ा रहस्य होगा—आपकी यह मान्यता आपको इतना सुन्दर बनायेगी कि आपके द्वारा किसी को भय नहीं होगा। और जब आपके द्वारा किसी को भय नहीं होगा तब आपको किसी के द्वारा भय नहीं होगा। अर्थात् आप सभी को भय से रहित करेंगे और स्वयं भय से रहित हो जायेंगे। जो देश दूसरे देश को अपने दुःख का कारण मानता है वह स्वयं भयभीत रहता है और दूसरे देश को भयभीत करता है। जो वर्ग दूसरे वर्ग को अपने दुःख का कारण मानता है वह स्वयं भयभीत रहता है और दूसरों को भयभीत करता है। जो व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को अपने दुःख का कारण मानता है वह स्वयं भयभीत होता है और दूसरों को भयभीत करता है। जो अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं मानता वह न स्वयं भयभीत होता है, न उससे कोई दूसरा ही भयभीत होता है। आज जो आप देखते हैं कि संसार में लड़ाई का सामान बड़ी शीघ्रता के साथ खरीदा जा रहा है। इसके मूल में क्या है ? भय ! भय !! और कुछ नहीं। भयभीत होकर ही प्राणी दूसरों को भय देने की सोचता है। इसलिये भाई, हम सबको अभय होना है और सभी को अभय कर देना है। सभी को आप अभय कब कर सकते हैं ? जब आप स्वीकार करलें ईमानदारी से कि हमारे सुख-दुःख का कारण दूसरा हो ही नहीं सकता।

अनेक युक्तियों व अनेक प्रकार से यह बात सिद्ध हो जाती है कि जब तक हम इस महामन्त्र को नहीं अपनायेंगे, राग-द्वेष-रहित हो ही नहीं सकेते। जब तक राग-द्वेष-रहित नहीं होते तब तक जो करना चाहिये वह होगा नहीं और जो नहीं करना चाहिये उसका नाश नहीं होगा। तो अकर्त्तव्य का नाश और कर्त्तव्य की अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती। कर्त्तव्य की अभिव्यक्ति के बिना, मिले हुये का सदुपयोग नहीं होगा और जाने हुए का प्रभाव नहीं होगा। सुने हुए में श्रद्धा नहीं होगी। और उसके हुए बिना, न हम जगत के लिये उपयोगी सिद्ध होंगे, न हम अपने लिए उपयोगी सिद्ध होंगे और न हम प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे। यह क्या है? यह है जीवन का एक मौलिक प्रश्न कि भाई, हम सबको अपने लिये, जगत के लिये, प्रभु के लिये उपयोगी सिद्ध होना है और हम हो सकते हैं। नहीं हो सकते हैं ऐसी बात नहीं। जो हो सकता है उसको न करना और जो नहीं हो सकता है उसे करने की सोचना यही सबसे बड़ा असाधन है।

१६

ज्ञान के तीनों स्तर सुरक्षित हैं – इन्द्रिय-ज्ञान, बुद्धि-ज्ञान और बुद्धि से अतीत का ज्ञान।

इन्द्रिय-ज्ञान अल्प है और बुद्धि से परे का ज्ञान विशेष है। जीवन पर अल्प ज्ञान का प्रभाव हो और विशेष ज्ञान का प्रभाव न हो तो इसी का नाम अविवेक है। इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग किया जाय और बुद्धि-ज्ञान के प्रभाव को अपनाया जाय तो इसमें अपना विकास है।

योग क्या है? कामना-निवृत्ति।

भोग क्या है? कामना के अनुसार प्रवृत्ति भोग है और योग में विरोध है। परन्तु योगी और भोगी दोनों एक ही व्यक्ति बनता है। जो भोग का आश्रय लेकर भोगी बनता है वही योग का आश्रय लेकर योगी बनता है।

बिश्वास मार्ग एक स्वतन्त्र मार्ग है। जिसे इन्द्रिय-ज्ञान एवं बुद्धि-ज्ञान से विषय नहीं कर सकते उसमें विकल्प-रहित विश्वास होता है।

—✶—

[अ]

विधान के अनुसार उस देखे, सुने, माने हुए में बाधा आ जाती है अर्थात् जब हमारी कामनायें पूरी नहीं होतीं और उनके पूरा न होने से जो दुःख होता है तब स्वभाव से ही इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान में सन्देह होता है किन्तु वह सन्देह यदि सर्वांश में होजाय तब तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक प्राणी अपना विकास कर लेता है। पर होता क्या है ? वह सन्देह सर्वांश में नहीं होता। जैसे मैं अपने जीवन को सामने रख कर जब सोचता हूँ तो ऐसा मालूम होता है कि जब अक्समात आँखें खराब होगईं और पढ़ने के संकल्प में बाधा होगई तब यह भास नहीं हुआ कि आज अगर देखने की शक्ति नाश हो गई है तो बोलने-सुनने की शक्ति भी नाश हो सकती है ऐसा भास नहीं हुआ। तो हुआ क्या ? कि अगर १/५ भाग समाप्त हुआ है, तो अभी ४/५ से काम चल सकता है। ये जो दशा है यह दशा दुःख को अधिक काल तक जीवित रखने वाली दशा है। उच्च कोटि के जो महापुरुष होते हैं वे किसी भी एक बात से सारी बातों को जान लेते हैं। जैसे कहावत है न ! कि हांड़ी में एक चावल देखा जाता है और उससे यह पता चल जाता है कि सारा चावल पक गया। ऐसी वस्तुस्थिति जिन व्यक्तियों की होती है वे तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के

प्रभाव से मुक्त होजाते हैं और मुक्त होकर समस्त कामनाओं से रहित हो जाते हैं।

कामनायें हैं क्या ? इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के प्रभाव से जिनकी उत्पत्ति होती है उन्हीं को कामना कहते हैं। उन कामनाओं में से सभी कामनायें आज तक किसी की पूरी नहीं हुई किन्तु कुछ कामनायें अवश्य पूरी हो जाती हैं। कुछ कामनायें जो पूरी हो जाती हैं, यह है इन्द्रिय-जन्य ज्ञान अथवा इस ज्ञान में जो विश्वास है, वह विश्वास समस्त कामनाओं की निवृत्ति के लिये प्रेरणा नहीं दे पाता अथवा यों कहो कि हम सभी कामनाओं का नाश करना चाहते हैं—यह बात वर्तमान जीवन से सम्बन्धित नहीं हो पाती। तो होता क्या है ? प्रायः लोग यह कहा भी करते हैं कि अभी तो मौज में हैं भविष्य में देखा जायेगा, क्या होगा ! बात तो ठीक है। अभी तो मौज है इसमें सन्देह नहीं। जिस समय हमारा संकल्प पूरा होता है उस समय सभी को मौज मालूम होती है। पर देखा जायेगा भविष्य में क्या होगा ?—यह प्रश्न सुख के प्रलोभन से हमें बाँध देता है और हम जो वास्तव में होने वाली बात है उसको जानना ही नहीं चाहते। और यदि जानने में आ भी जाय तो उसका प्रभाव नहीं होने देते। और यदि किसी कारण प्रभाव हो भी जाय तो फिर ऐसी बातें सोचने लगते हैं कि अरे भाई, मरना तो है ही, बिना खाये क्यों मरें ! बिना अमुक काम किये क्यों मरें ! मरना तो है ही।

ऐसी बातें सोच-सोच कर हम उस ज्ञान का प्रभाव जो ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान को खा सकता है, मिटा सकता है, उस ज्ञान के प्रभाव को नहीं होने देते। प्रभाव होता न हो ऐसी बात नहीं। प्रभाव होता तो है। देखिये, जिस काल में इन्द्रिय-ज्ञान

है, उसी काल में बुद्धि का ज्ञान भी है। और सच पूछिये तो बुद्धि से अतीत का ज्ञान भी है। ज्ञान के तीनों स्तर ज्यों के त्यों सदैव सुरक्षित हैं। इन्द्रिय-ज्ञान भी, बुद्धि-ज्ञान भी और बुद्धि से अतीत का ज्ञान भी। जैसे कोई दिन में दीपक भी जला दे, बल्ब भी जला दे और सूर्य का प्रकाश भी हो। तो इस उदाहरण में तो यह बात मालूम होती है कि सूर्य का प्रकाश बल्ब और दीपक के प्रकाश को अपने में विलीन कर लेता है और अपने को ही प्रकाशित करता है।

किन्तु ज्ञान के सम्बन्ध में ऐसा नहीं होता। ज्ञान के सम्बन्ध में तो ऐसा होता है कि इन्द्रिय-ज्ञान भी है, बुद्धि का ज्ञान भी है और बुद्धि से अतीत का ज्ञान भी है परन्तु अधिकतर हमारे जीवन पर जो प्रभाव रहता है वह इन्द्रिय-ज्ञान का रहता है। और वह इन्द्रिय-ज्ञान बुद्धि-ज्ञान की अपेक्षा अल्प है। और बुद्धि-ज्ञान बुद्धि से अतीत के ज्ञान की अपेक्षा अल्प है। अल्प-ज्ञान का प्रभाव हो और विशेष-ज्ञान का प्रभाव न हो, इसी का नाम है—अविवेक। और अविवेक कुछ नहीं। विशेष-ज्ञान का प्रभाव न होना और अल्प-ज्ञान का प्रभाव रहना, यह जो अविवेक है, यह साधन का निर्माण नहीं होने देता। जब साधन का निर्माण नहीं होता तो साधन में अस्वाभाविकता भी मालूम होती है, कठिनाई भी मालूम होती है और वह पूरा हो भी नहीं पाता। ऐसी दशा में हम लोग यह सोचते हैं कि अरे भाई, जो होगया वह ठीक है। यही क्या कम है कि हम थोड़ी देर सत्संग में बैठ जाते हैं! अपना एक घण्टा अच्छा कट गया। बात तो ठीक है, लेकिन सोचना तो यह है कि भाई, आखिर यह मानव-जीवन

जब सिद्धि के लिये मिला है तो फिर यह बात कब तक हम टालते रहेंगे ? सिद्धि प्राप्त करने वाली बात हम कब तक टालते रहेंगे ? हमारा तो ऐसा विश्वास है भाई ! और अनुभव भी है कि जब तक हम अपनी सिद्धि को वर्तमान की वस्तु नहीं मानेंगे तब तक भाई, सिद्धि होने की सम्भावना है नहीं। और जिस समय हम सिद्धि को वर्तमान की वस्तु स्वीकार करेंगे, उस समय हमारी पूरी शक्ति लग जायेगी।

अब आप कहेंगे कि आप किस सिद्धि की बात कहते हैं ? वह सिद्धि क्या है ? सिद्धि का वास्तविक रूप क्या है ? यह तो जब प्राप्त होगी तभी आप जान सकेंगे। लेकिन संकेत-भाषा में यह कहा जा सकता है कि बुद्धि से अतीत का जो ज्ञान है, अथवा बुद्धि का जो ज्ञान है उसका प्रभाव होजाय जीवन में और इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग होजाय। बुद्धि के ज्ञान का तो हो प्रभाव और इन्द्रिय के ज्ञान का हो उपयोग। आप कहेंगे, जरा इसे उदाहरण से स्पष्ट कीजिये। बुद्धि-ज्ञान ने हम सबको यह बताया कि संयोग में ही वियोग है। यह बात बुद्धि के ज्ञान से स्पष्ट होती है लेकिन प्रभाव इसका नहीं होता। प्रभाव किसका होता है ? कि अभी तो हम लोग इकट्ठे हैं हीं, चाहे पिता-पुत्र के रूप में हों, चाहे पति-पत्नी के रूप में हों; चाहे दो मित्र के रूप में हों; चाहे दो बन्धुओं के रूप में हों। बोले भाई, अभी तो हम हैं, हमारा भाई है और हम हैं, हमारा बेटा है और हम हैं, हमारी पत्नी है और हम हैं और हमारा पति है और हम हैं। अभी तो हम हैं।

ऐसा कभी नहीं सोचते कि आज जिस प्यार से हम लोग बैठे बात कर रहे हैं, एक दिन विवश होकर हम सबको अलग

हो जाना पड़ेगा और अपना कोई वश नहीं चलेगा। इस बात का जीवन में प्रभाव होता है क्या ? यदि इस बात का प्रभाव हो जाय तो हमारी-आपकी वस्तुस्थिति क्या होजायेगी ? अरे भाई ! देखो, थोड़ी देर का साथ है इसलिए एक दूसरे के साथ जो करना है वह करो। क्योंकि हमेशा के लिए तो साथ है नहीं। जैसे आये हुए मेहमान को कष्ट सह कर भी अच्छा भोजन दे देते हैं, स्थान दे देते हैं, उसी प्रकार हमारे प्रत्येक व्यवहार में यह प्रभाव आजाय कि भाई ! थोड़ी देर का साथ है आखिर तो अलग होना ही है। इसलिये थोड़ी देर के लिए हम क्यों ऐसी बात करें जो करने की नहीं है ! तो जीवन में एक बड़ी ही क्रान्ति आजाय, प्रकाश मिल जाय। पर ऐसा नहीं होपाता। क्यों नहीं होपाता ? कि बुद्धि का ज्ञान तो है किन्तु उसका प्रभाव स्वीकार नहीं करते। आप कहेंगे कि इस प्रभाव को स्वीकार करने वाला कौनसा देवता है ? मैं आपसे सच कहता हूँ कि वह कोई देवता हो लेकिन वह तुम्हीं हो। तुम्हीं एक ऐसे देवता हो जो इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव को भी स्वीकार कर सकते हो, बुद्धि-ज्ञान के प्रभाव को भी स्वीकार कर सकते हो और बुद्धि से अतीत के ज्ञान से भी अभिन्न होसकते हो।

तो वह जो तुम हो जिसके ऊपर अनेक प्रकार के प्रभाव अंकित हैं उसकी वस्तुस्थिति क्या है ? उसकी वस्तुस्थिति मुझे तो ऐसी मालूम होती है कि भाई, अगर सब प्रकार के प्रभाव मिटा दिये जायँ तब न ! उसका ज्ञान होगा। इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव जब मिटे, बुद्धि-ज्ञान का प्रभाव होकर के अपना फल देकर के जब समाप्त हो जाय तब आप पता चला सकते हैं

कि यह प्रभाव किसने स्वीकार किया था। हम लोग इन्द्रिय-ज्ञान के होते हुए, बुद्धि-ज्ञान के होते हुए, बुद्धि-ज्ञान से अतीत के ज्ञान को जानते हुए चाहते हैं कि हम उस देवता का पता लगालें जिस देवता ने इन सबको स्वीकार किया है। उसी का नाम किसी ने 'जीव' रख दिया। उसी का नाम किसी ने 'व्यक्तित्व' रख दिया। उसी का नाम किसी ने कुछ रक्खा, किसी ने कुछ रक्खा। वास्तव में वह क्या है? इसको जान सकते हैं पर उसका वर्णन नहीं कर सकते। और अगर वर्णन कर भी सकते हैं तो केवल इस अंश में कर सकते हैं कि भाई, जिसमें कामना है उसी में जिज्ञासा भी है। कामना के रहते हुए तो जिज्ञासा पूरी नहीं होती। आप कहें कि कामना तो कभी नाश होगी नहीं। ऐसी बात नहीं है। कामना तो कहते ही उसको हैं कि जिसमें प्रवृत्ति हो और जिसकी निवृत्ति हो और पूर्ति न हो।

कामना की जो वास्तविक परिभाषा है, मुझे तो ऐसा ही मालूम होता है कि उसकी निवृत्ति भी होती है और उसके अनुरूप प्रवृत्ति भी होती है। निवृत्ति और प्रवृत्ति ये दो अवस्थायें हैं। निवृत्ति से क्या मिलता है? कि भाई, शान्ति मिलती है। प्रवृत्ति से क्या मिलता है? कि शक्ति का ह्रास होता है। शक्ति का ह्रास कामना के अनुरूप प्रवृत्ति में और शक्ति का संचय कामना की निवृत्ति में। जिसमें एक का नाम भोग रख लो तो दूसरे का नाम योग रख लो। योग और भोग जिसके प्रकाश से प्रकाशित हैं, वह कौनसा देवता है? और वह कौनसा देवता है जो अपने को भोगी और योगी कहता है? और भोग व योग क्या है? तीन प्रश्न बने, भाई। एक तो यह प्रश्न—योग और

भोग का प्रकाशक कौन है ? योगी और भोगी कौन है ? और योग और भोग क्या है ? इस सम्बन्ध में यदि हम और आप विचार करें तो योग और भोग का जो प्रकाशक है उसे 'मैं' नहीं कह सकते, उसे 'है' कह सकते हैं। जिसको 'है' कह सकते हैं, उसका कभी नाश नहीं होसकता। और जिसका नाश नहीं होसकता वह सभी का सब कुछ रहता है। और सब कुछ होने पर भी सभी से अतीत भी है। जो सभी से अतीत है, सभी का सब कुछ है वही प्रकाशक है। किसका ? योग और भोग का।

तो योग क्या है ?—कामना की निवृत्ति और भोग क्या है ? कि कामना के अनुरूप प्रवृत्ति। तो प्रवृत्ति का नाम हुआ भोग और निवृत्ति का नाम हुआ –योग। और वह योगी और भोगी कौन है ? उसको आप कहते हैं—'मैं'। मैं भोगी भी हूँ और योगी भी हूँ। ध्यान तो दीजिए कि भोग और योग में तो परस्पर विरोध है। वह अगर प्रवृत्ति है तो वह निवृत्ति। वह अगर शक्ति का ह्रास करता है तो उससे शक्ति का संचय होता है। भोग अगर पराधीनता की ओर लेजाता है तो योग स्वाधीनता की ओर लेजाता है। भोग यदि जड़ता में आबद्ध करता है तो योग चिन्मयता की ओर लेजाता है। बिल्कुल विरोध है लेकिन क्या योगी और भोगी दो हैं ? जरा ध्यान दीजिये, कैसी विचित्र बात ! कैसी अलौकिक बात ! भोगी और योगी एक और भोग और योग में विरोध। किन्तु जो अपने को भोगी कहता है वही अपने को योगी कहता है। तो पता चला कि जिसको आप 'मैं' कहते हैं उसका ऐसा कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मालूम होता जो 'पर' के बिना प्रकाशित होजाय। जैसे भोग के बिना भोगी प्रकाशित होजाय, योग के बिना योगी प्रकाशित होजाय। जिज्ञासा के बिना जिज्ञासु प्रकाशित होजाय। प्रेम के

बिना प्रेमी प्रकाशित हो जाय—ऐसा भासित नहीं होता, ऐसा अनुभव भी नहीं होता।

अतः तात्पर्य यह निकला कि भाई ! हमें भोग का आश्रय लेकर अपने अस्तित्व को रखना है ? अथवा योग का आश्रय लेकर अपने अस्तित्व को रखना है ? अथवा जिज्ञासा का आश्रय लेकर अपने अस्तित्व को रखना है ? अथवा प्रेम का आश्रय लेकर अपने को रखना है ? इन चारों में से किसी एक का आश्रय लेना ही पड़ेगा। आप ध्यान दीजिये, जब हम भोग का आश्रय लेते हैं तब सुख भोगते हैं रुचि से लेकिन दुःख भोगना पड़ता है विवशता से। सुख कोई विवशता से नहीं भोगते लेकिन दुःख विवश होकर भोगना पड़ता है। तो जब विवश होकर दुःख को भोगते-भोगते हम इतने दुःखी होजाते हैं कि भाई, अब तो हमसे दुःख नहीं भोगा जाता ! तो भाई, जब तुमसे दुःख नहीं भोगा जाता तो सुख का भोगना बन्द करो। बोले, यह अपने वश की बात नहीं है। तो भैया ! अगर तुम्हारे यह वश की बात नहीं है कि सुख का भोगना बन्द कर सको तो यह भी तुम्हारे वश की बात नहीं है कि दुःख के भोग से बच सको। यह किसका सत्य नहीं है ? कौन भाई-बहन ऐसा है जिसका यह सत्य नहीं है ? कि कि सुख को भोगते हुए दुःख को भोगना ही पड़ता है ! अब दुःख को हम चाहते नहीं।

तो भाई, यह कौनसा देवता है ? कि हम तो दुःख को चाहते नहीं और मजबूर होकर हमारे पास दुःख भेज देता है। वह कौनसा देवता है ? बोले, आज तक उसका पता नहीं चला कि वह कौनसा देवता है। लोग तो ये कहने लगे कि भाई, ऐसा विधान ही है। यह तो होनहार ही है। यह तो होगा ही। भाई,

जो विधान होता है उसका कोई आधार होना चाहिये। उसका कोई प्रकाशक होना चाहिये। यह आपकी मर्जी की बात है कि आपको विधान तो मानना ही पड़ता है लेकिन अब आप यह नहीं मानते कि कोई इसका आधार है अथवा यह किसी का विधान है। इसके न मानने से जिसका यह विधान है उसका कोई मूल्य घटता नहीं और इसके मानने से कि भाई, ये किसी का विधान है उसका कोई मूल्य बढ़ता नहीं। परन्तु ध्यान तो इस बात पर देना है कि जब आपको विधान मानना ही पड़ता है तो वह किसी का विधान है इसके मानने में आपको आपत्ति क्या है? आप कहें कि हमें आपत्ति हो, न हो, पर हम नहीं स्वीकार करते। बड़ी सुन्दर बात। लेकिन विधान को? वह तो विवश होकर स्वीकार करना ही पड़ता है। बहुत ठीक बात। किसी ने कहा कि हम प्रकाश को तो मानते हैं लेकिन सूर्य को नहीं मानते। और बोले, उष्णता को तो मानते हैं लेकिन सूर्य को नहीं मानते। तो इसमें अपनी कोई हानि नहीं मालूम होती। सूर्य को भी कोई अनादर नहीं मालूम होता।

लेकिन एक बात तो बताओ कि विधान के अनुसार सुख-दुःख का भोक्ता किसको मानते हो? आपको कहना ही पड़ेगा— अपने को मानते हैं। अच्छा भाई, सुख से अलग सुख का भोक्ता कभी तुमने देखा है अपने को? आपने दुःख से अलग दुःख का भोक्ता कभी अनुभव किया? बोले, सो तो नहीं किया। एक ओर तो आपकी इतनी उदारता है कि जिसको आज तक नहीं देखा उसके अस्तित्त्व को आप मानते हैं और दूसरी ओर आपकी यह न्याय-प्रियता है कि प्रकाश प्रत्यक्ष है, पर सूर्य को नहीं मानते। हमारे मानव-सेवा-सङ्घ की नीति में किसी को मनाने

का लेश-मात्र भी नियम नहीं है। अपनी बात दूसरों पर लादने का लेश-मात्र भी आग्रह नहीं है। आप मानिये अथवा मत मानिये। लेकिन आप जो स्वयं सुख-दुःख के भोक्ता हैं--हम इतना जानना चाहते थे कि दुःख से अलग करके आपका अस्तित्व क्या है ?, सुख से अलग करके आपका अस्तित्व क्या है ? अवस्था से अलग करके आपका अस्तित्व क्या है ? परिस्थिति से अलग करके आपका अस्तित्व क्या है ? वस्तु से अलग करके आपका अस्तित्व क्या है ? इस दृष्टि से कृपा-सिन्धु ! आप विचार करें। जब इस दृष्टि से आप विचार करेंगे तो दुःख से अलग होकर आप अपने को दुःखी नहीं कह सकते। सुख से अलग होने पर आप अपने को सुखी नहीं कह सकते। वस्तु से अलग होकर आप अपने को व्यक्ति नहीं कह सकते। अवस्था से अलग होने पर आप अपने को परिच्छिन्न नहीं बना सकते। कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि सुख, दुःख, वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि जो आपको इन्द्रिय-ज्ञान से प्रकाशित प्रतीत होते हैं यानी जिनकी प्रतीति इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर है वही सुख-दुःख, वस्तु. अवस्था, परिस्थिति बुद्धि-ज्ञान से परिवर्तनशील हैं। कौन परिवर्तनशील है ? सुख, दुःख, वस्तु, अवस्था, परिस्थिति। जब ये परिवर्तन-शील हैं तो उस परिवर्तनशीलता का ज्ञान जिस ज्ञान से होता है उसका नाम है—बुद्धि का ज्ञान।

किन्तु जब आप, कोई और नहीं ! इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव से उत्पन्न हुई कामना का सुख भोगना चाहते हैं तब बुद्धि का ज्ञान मन के आधीन होजाता है। और फिर मन इन्द्रियों के आधीन होजाता है और इन्द्रियाँ विषयों के आधीन होजाती हैं। तात्पर्य क्या निकला ? कि इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के प्रभाव से उत्पन्न हुई कामना की पूर्ति आपको असीम से ससीम की ओर, अव्यक्त से

व्यक्त की ओर, स्वाधीनता से पराधीनता की ओर, चिन्मयता से जड़ता की ओर ले जाती है। अन्त में परिणाम क्या होता है? कि दुःख का प्रभाव आपके जीवन में एक चेतना प्रदान करता है। वह चेतना आपको विवश करती है जड़ता से चिन्मयता की ओर, पराधीनता से स्वाधीनता की ओर और अनित्य से नित्य की ओर अग्रसर होने के लिये। यह द्वन्द्वात्मक स्थिति किसकी है? आपको मानना पड़ेगा—मेरी है। वह जो 'मैं' है, जिसकी यह द्वन्द्वात्मक स्थिति है, वह जब तक सुख-दुःख का भोगी रहता है तब तक कामनाओं की उत्पत्ति का प्रवाह चलता ही रहता है। और जब वह सुख-दुःख का भोगी जिज्ञासु होता है तब कामनायें मिटने लगती हैं।

लेकिन यह ध्यान देने की बात है कि किसी अंश में तो है जिज्ञासु और किसी अंश में है भोगी तब तक बड़ी भयंकर स्थिति रहती है महाराज! कैसी भयंकर स्थिति? जैसे एक अबोध बालक जानना भी चाहता है कि पापा! यह क्या है? मम्मी! यह क्या है? जानना भी चाहता है और जो कुछ उसे दीखता है उसे मुँह में भी रखना चाहता है। आप देखते हैं न! एक बालक की वस्तुस्थिति देखते हैं न! कि जो चीज उसको दीखती है उसको हाथ में पकड़ेगा, मुँह में रखेगा, आँख से देखेगा— तो इन्द्रिय-ज्ञान का भोग भी करना चाहता है और जानना भी चाहता है। अगर यही वस्तुस्थिति बाल्यकाल के बाद भी बनी रहे, जरा ध्यान दीजिये, तो चाहे साठ वर्ष का हो, चाहे सौ वर्ष का, वह बालक ही है। जो बालक है उसमें भाई जड़ता रहेगी ही। उसे तो रोना भी पड़ेगा, हँसना भी पड़ेगा। उसमें तो पराधीनता रहेगी। बालक कोई भी स्वाधीन नहीं होता।

उसके पास दो ही अस्त्र रहते हैं—कभी हँसना, कभी रोना। क्या वही वस्तुस्थिति आज अपनी नहीं है? जरा ध्यान तो दीजिये।

कहने का मेरा तात्पर्य था कि जिज्ञासा और कामना दोनों जब तक साथ में रहती हैं तब तक जीवन की समस्या हल नहीं होती। और जब जिज्ञासा इतनी सबल होती जाती है कि वह कामनाओं को खाने लगती है, मिटाने लगती है, तो नियम ऐसा है, मंगलमय विधान ऐसा मालूम होता है कि जिस काल में समस्त कामनायें नाश होती हैं उसी काल में जिज्ञासा की पूर्ति होती है। आज हम जिज्ञासा-पूर्ति के लिये बड़े-बड़े ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं। कोई भाई यह न समझ बैठे कि मैं स्वाध्याय का विरोधी हूँ। अगर स्वाध्याय का विरोधी होता तो स्वयं किताब क्यों लिखाता। स्वाध्याय का विरोधी नहीं। विचार इस बात पर करना है कि बाह्य ज्ञान के द्वारा, क्या सुनी हुई बातों के द्वारा आपकी जिज्ञासा पूरी होसकती है? अगर जिज्ञासा पूरी हो सकती होती तो अब तक हो ही गई होती। कारण क्या है? एक ही ग्रन्थ का अनेक व्यक्ति अध्ययन करते हैं और अनेक व्यक्तियों पर उस ग्रन्थ का अनेक प्रकार का प्रभाव होता है। ऐसा आपने नहीं देखा होगा कि एक ही ग्रन्थ का अनेक पर एकसा प्रभाव पड़े। बात तो सोचो, क्या कारण है? कि ग्रन्थ एक और प्रभाव अनेक! उसका एक-मात्र कारण मानना पड़ेगा कि प्रत्येक जिज्ञासु की वस्तुस्थिति अलग-अलग है, रुचि अलग-अलग है, योग्यता अलग-अलग है, सामर्थ्य अलग-अलग है।

तो रुचि भेद से, योग्यता भेद से, सामर्थ्य भेद से बाह्य

ज्ञान का प्रभाव एकसा नहीं रहता और जब तक प्रभाव एकसा नहीं रहता, तब तक उसको निःसन्देहता नहीं कह सकते। तात्पर्य क्या निकला ? कि बाह्य ज्ञान के आधार पर हम सब निःसन्देह नहीं होसकते। तो क्या होसकते हैं ? आप कहेंगे कि बाह्य ज्ञान के आधार पर भी तो निःसन्देह होते हैं। किसके सम्बन्ध में ? जो इन्द्रिय-ज्ञान, बुद्धि-ज्ञान का विषय नहीं है। जिसके सम्बन्ध में जिज्ञासा जाग्रत नहीं हुई है उसके सम्बन्ध में यदि कोई बात आप सुनते हैं तब उसमें विश्वास होता है। वह जो विश्वास विकल्प-रहित होने से ज्ञान के समान फल देता है। पर सच मानिये, वह ज्ञान नहीं होता।

१६

[ब]

आप कहेंगे कि भले ही ज्ञान न हो पर जब वह ज्ञान के समान फल देता है तो हम उसे ज्ञान क्यों न मानें ? ज्ञान मत मानो, उसे विश्वास-मार्ग मानलो। विश्वास-मार्ग भी एक स्वतन्त्र मार्ग है। एक प्रशस्त मार्ग है। लेकिन वह विश्वास किस पर किया जा सकता है ? जिस पर आज तक सन्देह न हुआ हो। जरा ध्यान दीजिये—आज एक बालक को अपनी माँ पर क्यों विश्वास होजाता है कि मेरी माँ है ? क्योंकि उसने अपने ज्ञान से अपनी माँ को विषय नहीं किया। अपने ज्ञान से अपने पिता को विषय नहीं किया। तो जिसको अपने ज्ञान से विषय नहीं करता और उसको जब सुन लेता है तो उसमें विकल्प-रहित विश्वास होजाता है। ऐसे ही जगत के प्रकाशक को जगत ने विषय नहीं किया, बुद्धि के प्रकाशक को बुद्धि ने विषय नहीं किया, इन्द्रियों के प्रकाशक को इन्द्रियों ने विषय नहीं किया। तो जिसको हम विषय नहीं कर पाते उसके सम्बन्ध में जब कोई बात सुनते हैं तब उसमें विकल्प-रहित विश्वास होजाता है। चाहे उसे गुरु-विश्वास कहो, चाहे उसे शास्त्र विश्वास कहो। लेकिन जिसको आप विषय करते हैं उसको अगर कोई कहे कि मानलो तो उसको आप नहीं मान सकते।

तात्पर्य क्या निकला ? कि उस पर यदि हम विश्वास करें जिसको आज तक इन्द्रिय-ज्ञान से विषय नहीं किया, बुद्धि-ज्ञान से जिसे विषय नहीं किया तो उसका जो विश्वास है वह विश्वास साधन-रूप है। लेकिन जिसे इन्द्रिय-ज्ञान से विषय करते हैं, उसका जो बिश्वास है वह साधन-रूप विश्वास नहीं है।

कहने का मेरा तात्पर्य था कि प्रत्यक्ष-वाद की दृष्टि से भी इन्द्रिय-ज्ञान अधूरा ज्ञान है, पूरा ज्ञान नहीं। तो जब अधूरा ज्ञान है तो अधूरे ज्ञान के प्रभाव का नाम ही सरकार ! अज्ञान है। जो अज्ञान है उसी का फल अकर्त्तव्य है और जो अकर्त्तव्य है उसी का फल है—विनाश। उसी का फल है—अभाव। उसी का फल है—ह्रास। अकर्त्तव्य के बिना ह्रास नहीं होसकता। तो कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि भाई ! इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग करें, उसके प्रभाव से प्रभावित न हों। जब उसके प्रभाव से प्रभावित नहीं होंगे तब किसका प्रभाव होगा ? तो तब बुद्धि-ज्ञान का प्रभाव होगा। तो बुद्धि-ज्ञान के प्रभाव से हमें क्या मिलेगा ? कि इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव से उत्पन्न हुई जो कामनायें थीं उनका नाश होजायेगा। बुद्धि-ज्ञान के प्रभाव से इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर उत्पन्न हुई कामनाओं का नाश होजायेगा। बोले कब ? जब बुद्धि मन के अधीन न रहे। अब आप कहेंगे—अजीब झगड़ा लगा दिया—तब किसके अधीन रहे ? मानव सेवा संघ की भाषा में उसको कहा जाता है—विवेकवित्—विवेक के अधीन। किस विवेक के अधीन ? कि वह ज्ञान जिस ज्ञान से आप बुद्धि के परिवर्तन को जानते हैं। बुद्धि का परिवर्तन क्या ? कि बुद्धि का परिवर्तन ये कि जरा

ध्यान तो दीजिये, कि वही बुद्धि किस काम में लगी ? जब हम और आप बच्चे होते हैं न ! तो मन के विरुद्ध जब बात होती है तब आपस में लड़कर एक दूसरे के चाटा मारते हैं। अब यह आपकी अनुभूति है कि हमारे मन के विरुद्ध जो काम करेगा हम उसे पीटेंगे या हमने जिसके मन के विरुद्ध बात की उसने हमें पीटा।

अब यह पीटने की मनोवृत्ति लेकर आप बड़े विज्ञानवेत्ता बने। बोले कि भाई ! हाथ से तो चाटा ही मारते थे अब ऐटम बम से करोड़ों आदमियों को मारेंगे। मैं आपसे पूछता हूँ कि यह जो भावना है कि हम ऐसे यन्त्रों का आविष्कार करें, ऐसी वस्तुओं का आविष्कार करें जो सारे संसार को नाश करने में हेतु बन जाय, क्या यह उसी अवस्था का परिचय नहीं है ? कौनसी अवस्था ? कि जब मन के विरुद्ध होने से हमने किसी को पीटा था या हमको किसी ने पीटा था। तो आपके विज्ञान का क्या विकास हुआ ? कि चांटा मारना ऐटम बम मारने में बदल गया। यही न ! विकास हुआ। और क्या विकास हुआ ? जो एक फर्लांग, दो फर्लांग की बात सुन सकते थे वह सैकड़ों मील की सुन सकते हैं। इन्द्रिय-ज्ञान को ही आपने विकसित किया, एनलार्ज किया। जरा ध्यान दीजिये—ऐसा जो विज्ञानवेत्ता है जो इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर ही अपना सारा जीवन निर्भर रखता है वह बड़े से बड़ा विद्वान भी एक अबोध बालक से अधिक महत्व नहीं रखता। इस दृष्टि से उस बुद्धि का कोई महत्व नहीं है महाराज ! जो इन्द्रिय-ज्ञान के आधीन होकर कार्य करती है।

किस बुद्धि का महत्व है ? जो विवेकवित् होकर कार्य करती है।

इसलिये मानव सेवा संघ की भाषा में अथवा यों कहो कि मानव-दर्शन में यह बात ही नहीं कही कि आप बुद्धि के ज्ञान पर विश्वास कीजिये। सिर्फ यह बात कही गई कि विवेक-विरोधी कार्य मत कीजिये—चाहे वह कार्य इन्द्रिय-जन्य हो, चाहे वह कार्य बुद्धि-जन्य हो। जिसमें विवेक का विरोध हो वह मत कीजिये। किस विवेक का विरोध ? जिस विवेक ने दो बातें बताईं हमें और आपको कर्त्तव्य के क्षेत्र में—कौनसी दो बातें ? कि एक तो हम ऐसी बात न करें जो अपने लिये नहीं चाहते—यह कर्त्तव्य विज्ञान; और एक जिस विवेक ने यह बताई कि किसी भी वस्तु सें हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं रह सकता और एक विवेक ने यह बताई कि वस्तु-विश्वास से काम नहीं चल सकता—गलत विश्वास है। तो जिस विवेक ने हमें और आपको यह प्रकाश दिया है और वह विवेक प्रत्येक भाई-बहिन के पास है। सच पूछिये, हमारे यहाँ जो गुरू की महिमा का वर्णन किया जाता है वह गुरू विवेक ही है। जब वह मूर्तिमान होकर व्यक्ति के रूप में प्रकट होता है अथवा ऐसे महापुरुष जब अवतरित होते हैं जिनके जीवन और विवेक में एकता है साधारण व्यक्ति देहाभिमान के कारण उन व्यक्तियों को भी गुरू मान लेते हैं। लेकिन संघ की की नीति में गुरू एक तत्व है और वह गुरू-तत्व विवेक के रूप में आपको प्राप्त है। यह गुरू और शिष्य की जो स्वाधीनता है जिसमें पराधीनता की गंध भी नहीं है तो आज हम उस विवेक के अधीन नहीं रहते हैं।

हमसे भूल क्या होती है ? कि हम सुखी भी रहते हैं, दुःखी भी रहते हैं, भोगी भी मानते हैं, योगी भी मानते हैं, जिज्ञासु भी मानते हैं, लेकिन विवेक के अधीन होकर नहीं मानते। यदि आज हम और आप अपने-अपने विवेक के आधीन हो जायं तब हमारी बुद्धि विवेक-वित् हो जायेगी तो मन के आधीन नहीं रहेगी। यह नियम है कि जब तक बुद्धि की स्वीकृति मन को नहीं मिलती तब तक मन संकल्प-पूर्ति में प्रवृत्त नहीं होता और जब तक मन संकल्प-पूर्ति में कार्य नहीं करता तब तक इन्द्रियों के आधीन नहीं होता और जब तक इन्द्रियों के आधीन नहीं होता तब तक मन पराधीन नहीं होता। सीधी-सादी बात। इसलिये भाई ! हम सबको विवेक के आधीन होना है अथवा यों कहो कि हम सबको विवेकी होना है।

देखिये, अहं जो है, जरा ध्यान दीजिये, कोई उसका ऐसा स्वतन्त्र अस्तित्व आपने देखा नहीं; दिखा सका नहीं कोई आज तक। विश्वास तो बहुत दिलाया—किसी ने जीव कह कर विश्वास दिलाया महाराज ! बुरा मत मानना और किसी ने ब्रह्म कह कर विश्वास दिलाया और किसी ने व्यक्ति कह कर विश्वास दिलाया और किसी ने कुछ नहीं कह कर विश्वास दिलाया–कुछ नहीं ! कुछ नहीं !! चाहे कुछ नहीं कहो,चाहे जीव कहो, चाहे ब्रह्म कहो, चाहे व्यक्ति कहो तो अहं के साथ मिली हुई वस्तु अहं को पुष्ट करती है और अपने को उसके आधीन बना देती है। इस दृष्टि से जब हम और आप निष्पक्ष भाव से विचार करेंगे तो भाई, उस अहं का स्वरूप निकलेगा—पराश्रय। एक हमने कहानी सुनी थी। बहुत से लोग कई प्रकार का साज बजा रहे थे साज, अनेक प्रकार के साज। कई प्रकार के साज बज रहे थे साज –जैसे तबला है, सारङ्गी है, सितार है,

मृदंग है आदि-आदि बज रहे थे। एक सज्जन के पास एक टेढ़ी-मेढ़ी लकड़ी थी। जब सब साज बजें और बजाने वाले जब मस्त हों तो वह भी मस्त होकर अपनी लकड़ी पर खूब हाथ चलाये तेजी से। तो किसी ने पूछा कि इस बाजे का क्या नाम है ? तो कहा—मिल बाजा है। इसका स्वर और ताल क्या है ? इसका स्वर और ताल तभी निकलता है जब सब बाजे बजते हैं।

सच पूछिये, हमको यह कहानी ऐसी मालूम हुई कि मानो किसी ने अहं के सम्बन्ध में लिखी है। सुख के साथ मिलादो तो—मैं सुखी, दुःख के साथ मिलादो तो—मैं दुःखी, भोग के साथ मिलादो तो—मैं भोगी, योग के साथ मिला दो तो—मैं योगी, सन्देह के साथ मिला दो तो—मैं जिज्ञासु, भगवान् के साथ मिला दो तो—मैं भक्त,प्रेम के साथ मिलादो तो—मैं प्रेमी। और सबको निकालदो तो–कुछ नहीं। और कुछ नहीं के साथ मिलादो तो कुछ नहीं। यही न ! हुआ। बुद्ध ने कह दिया-कुछ नहीं,अहं जैसी कोई वस्तु नहीं। शंकर ने कह दिया– ब्रह्म। जैनियों ने कह दिया—जोव। भौतिकवादियों ने कह दिया - व्यक्ति। मैं उदाहरण दिया नहीं करता हूँ अपने व्याख्यान में कभी। तो आप सोचिये, गम्भीरता से सोचिये आप लोग। क्या ? कोई कहता है कि मैं अमुक का पति हूँ, मैं अमुक की पत्नी हूँ कि कोई कहता है कि मैं अमुक का बेटा हूँ। अरे लाला ! जिस वीर्य से तुम पैदा हुए वह तीन बार बदल गया तब भी बेटा हो ? जरा ध्यान दो। तो भाई, इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का यह प्रभाव है। सुना हुआ, इन्द्रियों के द्वारा ही न ! सुना जाता है, इन्द्रियों द्वारा ही न ! देखा जाता है। तो इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के प्रभाव में आबद्ध प्राणी अपने को नहीं जानता। जो अपने को नहीं जानता सच पूछिये—वह किसी को

नहीं जानता। करता क्या है? मानता है। अपने को भी मानता है, औरों को भी मानता है। संसार को भी मान लिया। लेकिन न अपने को जाना, न जगत को जाना।

कहने का मेरा तात्पर्य था कि इस इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का प्रभाव उपयोग के लिये होना चाहिये, ज्ञान के लिये नहीं। इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर आप जो अपने को ज्ञानी मान बैठते हैं। देखिये न! साइन्स सच पूछिये कर्म है कर्म। और आपने अनुवाद कर दिया—विज्ञान। विज्ञान कहते किसको हैं? विशेष ज्ञान को। जिसमें ज्ञान की गन्ध भी नहीं है उसका नाम—विज्ञान! आप कहेंगे कि ज्ञान की गन्ध क्यों नहीं है? तो वही तो मैंने आपसे निवेदन किया न! सैकड़ों मील का देख भी सकें, सैकड़ों मील घण्टों में चल भी सकें, दूर की सुन भी सकें, लाखों आदमियों को मार भी सकें—यह तो इन्द्रिय-ज्ञान का व्यापार है। अरे भाई, ३/४ को ७५/१०० करने से वजन बढ़ता है क्या? वजन तो कुछ नहीं बढ़ता। तो विशेष ज्ञान तो हुआ नहीं। वही अधूरा ज्ञान रहा, अल्प ज्ञान रहा। बस उसका उपयोग बढ़ गया। उपयोग बढ़ जाने से ज्ञान नहीं बढ़ जाता, उपयोग घट जाने से ज्ञान नहीं घट जाता। इसलिये भाई! जिसे आप साइंस कहते हैं जिसका अनुवाद हिन्दी में विज्ञान करते हैं, उसमें ज्ञान की गन्ध भी नहीं है। क्यों? ज्ञान कहते किसे हैं? जरा सोचो तो सही—जिससे निःसन्देहता प्राप्त हो। तो क्या आज विज्ञान से निस्सं-देहता प्राप्त है? किसी को निःसन्देहता प्राप्त नहीं है। तो विज्ञान है क्या? बल है बल। बल जो होता है वह हमेशा चेतना-शून्य होता है। बल में चेतना नहीं होती। अगर बल में चेतना होती तो बल के द्वारा आप निर्बल को खा नहीं सकते थे।

कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि जो वास्तव में ज्ञान है आज उस पर हमारी दृष्टि नहीं जाती। जहाँ दर्शन नहीं है वहाँ जीवन नहीं है महाराज ! वहाँ मृत्यु है, वहाँ अभाव है, वहाँ जड़ता है, वहाँ पराधोनता है, वहाँ कुछ नहीं है। तो कहने का तात्पर्य यह है भाई ! कि इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग करना है। बुद्धि-ज्ञान के द्वारा इन्द्रिय-ज्ञान पर विजयी होना है। लेकिन कब ? जब बुद्धि विवेकवित् हो तब। जो आज अपने को दुःखी मानता है, सुखी मानता है, भोगी मानता है, योगी मानता है यदि वह विवेकी होजाय विवेकवित् होकर; जैसे भोगवित् होकर भोगी हुआ, योग वित् होकर योगी हुआ, सुख वित् होकर सुखी हुआ, दुःख वित् होकर दुःखी हुआ, ऐसे ही जो उसे नित्य प्राप्त है, स्वतः प्राप्त है, उस नित्य एवं स्वतः प्राप्त विवेक द्वारा यदि वह विवेक वित् होकर विवेकी हो जाय। तो विवेकी किसे कहते हैं भैया ? जहाँ अविवेक की गन्ध न रहे। जहाँ अविवेक की गन्ध नहीं रहती वहाँ क्रियात्मक रूप में अकर्त्तव्य नहीं रहता। अविवेक का नाश होते ही अकर्त्तव्य का नाश होता है। और अकर्त्तव्य के नाश में ही कर्त्तव्य-परायणता है। और कर्त्तव्य परायणता में ही, विद्यमान राग की निवृत्ति है।

कर्त्तव्य परायणता का महत्व क्यों है ? अकर्त्तव्य का विरोध क्यों है ? सही अर्थ में पति हुये बिना पत्नी के राग से नहीं छूट सकता। सही अर्थ में पिता हुये बिना सन्तान के राग से नहीं छूट सकता। सही अर्थ में मित्र हुये बिना मित्र के राग से नहीं छूट सकता। सही अर्थ में व्यक्ति हुये बिना समाज के राग से नहीं छूट सकता। मुझे इसे कहने में भी आपत्ति नहीं है कि सही अर्थ में जीव हुये बिना ईश्वर के राग से नहीं छूट सकता। लेकिन अनुराग से युक्त होसकता है। राग से छूटने

पर ही अनुराग से युक्त होता है। अनुराग चाहे पिता-पुत्र के बीच में हो, चाहे पति-पत्नी के बीच हो, चाहे व्यक्ति और समाज के बीच में हो, चाहे जीव और ईश्वर के बीच में हो। अनुराग रसरूप है। और अनुराग का रस स्वाधीन रस है। अनुराग का रस नित्य रस है; किन्तु राग का रस अनित्य रस है और पराधीनता में आबद्ध करने वाला है। तो कर्त्तव्य ने हमें क्या बताया ? कर्त्तव्य ने हमें यह बताया कि राग को अनुराग में बदल दिया। ध्यान तो दीजिये—अगर कोई पिता के लिये पुत्र है अथवा पुत्र के लिये पिता है। और न तो पिता होकर पुत्र से सुख की आशा करता है, न पुत्र होकर पिता से सुख की आशा करता है तो सुख की आशा से रहित किया हुआ जो प्रेम है, जो सेवा है, वह सेवा कितनी सुन्दर होगी ! जरा ध्यान तो दीजिये—आज यदि हम सुख की आशा से रहित अपने सम्बन्धियों से प्रीति करने लग जायँ, उनकी सेवा करने लग जायँ तो क्या हमारा-आपका व्यक्तिगत जीवन सुन्दर नहीं होगा ? इतना सुन्दर होगा महाराज ! कि जिसके लिये राष्ट्र की भी अपेक्षा नहीं होगी और सच मानिये, उसके लिये मजहब की भी अपेक्षा नहीं होगी। किन्तु हमसे भूल क्या होती है ? कि हम अपने व्यक्तिगत जीवन को विवेकी हुये बिना—और कोई कारण नहीं—अविवेकी होकर उस व्यक्तिगत जीवन को राग में आबद्ध कर लेते हैं।

हमारे एक मित्र कहते हैं कि आप हमको राग-रहित कर दीजिये—कि राग-रहित तो विवेकी होता है। और किसी दूसरे के करने से कोई हुआ नहीं, होसकता नहीं, कभी होगा नहीं। हाँ ! यह दूसरी बात है कि विवेकियों के सम्पर्क में विवेक

का महत्व बढ़ता है और जब विवेक का महत्व बढ़ता है तब विवेक तो प्राप्त है ही है। हुआ क्या? अविवेक का महत्व बढ़ने से हम अविवेकी होगये। विवेक का महत्व बढ़ने से हम सब विवेकी हो सकते हैं। विवेकी हो सकते हैं तब कर्त्तव्यनिष्ठ हो ही सकते हैं। और जब कर्त्तव्यनिष्ठ होसकते हैं तो राग रहित हो ही जायेंगे। जब राग रहित होंगे तब अनुराग युक्त होने में क्या देर है? जहाँ राग नहीं है वहाँ अनुराग है। जहाँ राग नहीं है वहाँ योग है। क्योंकि राग से ही भोग होता है। तो योग, अनुराग, बोध, इन सबकी प्राप्ति में कोई भी भाई, कोई भी बहन पराधीन नहीं है। और सच पूछिये तो भोग वर्तमान की वस्तु नहीं है महाराज! आपको अगर चाय पीनी होगी आठ बजे तो आठ बजना वर्तमान की वस्तु नहीं है। वह भविष्य की वस्तु है। उसमें आप स्वाधीन नहीं हैं। उसमें आप पराधीन हैं। क्यों? भोगने की शक्ति रहे तब न! भोगोगे। भोग्य वस्तु रहे तब न! भोगोगे। लेकिन योग में पराधीनता नहीं है। योग वर्तमान की वस्तु है। तो जो वर्तमान की वस्तु है जिसमें पराधीनता नहीं है उससे आज हम निराश हैं निराश—भला हम साधारण, पतित प्राणी क्या योगी होसकते हैं! मैं आपसे पूछता हूँ कि जब हम साधारण प्राणी योगी नहीं हो सकते तो क्या सातवें आसमान के व्यक्ति योगी होसकते हैं? जरा ध्यान तो दीजिये!

कहने का तात्पर्य मेरा यह था कि आज हम इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के प्रभाव में इतने प्रभावित हो गये हैं कि कर्म का नाम विज्ञान रख लिया। बल का नाम ज्ञान रख लिया। अरे भाई! कर्म से आपको अरुचि होती हो, घबराते हो तो बल का नाम ज्ञान रख लिया। बल कभी ज्ञान नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि

में यदि आप क्रियात्मक रूप देखेंगे वहाँ भी बल को स्वाधीन नहीं रखा। हम एक दफा सोचने लगे कि क्या कारण है कि पुलिस गोली नहीं चला सकती ? जब तक मजिस्ट्रेट का आर्डर न हो। क्यों नहीं चला सकती ? तो पुलिस है—बल और मजिस्टेट है—न्यायाधीश। न्यायाधीश हो सकता है—विवेक। और बल और विवेक के बीच में बल को हमेशा विवेक के आधीन रहना चाहिये। आज हमसे भूल क्या हुई ? —बल के आधीन विवेक हो गया। उदाहरण लीजिये—एक छोटा सा प्रश्न था कि यह जो बेजीटेबिल बनाया जाता है इसमें एक रंग डाल दिया जाय—तो धन के आधीन कौन होगया ? वह साइन्सवेत्ता जो रंग डाल सकता है, नहीं डाल सका। और धन के आधीन कौन होगया ? वह पावर जिसको इलैक्शन के लिये रुपया लेना है। अब सोचिये—अंग्रेजी राज्य में हम लोग जब यह कहते थे कि जब हिन्दुस्तान आजाद होजायेगा तब इस प्रकार की वस्तुयें देश में नहीं मिलेंगी। आज क्या दशा होगई ? आप कितना ही रुपया दीजिये क्या शुद्ध घी ले सकते हैं ? नहीं ले सकते।

तो सारे संसार को ईमानदार बनाने का दम भरता है आज का राष्ट्र; लेकिन स्वयं इलैक्शन के आधीन होकर, धन के आधीन होकर, मिल-औनर का गुलाम होगया। मिल-औनर का गुलाम और कौन होगया ? वह साइन्सवेत्ता जो कहता है—मैं ज्ञाता हूँ, मैं सब कुछ जानता हूँ और वह पढ़ा-लिखा राजनैतिज्ञ—मैनेजर बन गया महाराज ! मैनेजर। कोई कैमिस्ट बन गया, इन्जीनियर बन गया। दशा क्या हुई ? तो करोड़ों आदमियों को निकिल धातु खिलाकर आंतों की बीमारी पैदा कर दी महाराज ! यह किसके द्वारा हुआ ? यह विवेक के विरोध से न ! हुआ। यह बल के आधीन होने से न ! हुआ। जब

मनुष्य बल के आधीन होता है और विवेकवित् नहीं रहता तब उसके जीवन में महाराज ! कर्त्तव्य नहीं रहता। और जब जीवन में कर्त्तव्य नहीं रहता तो कोई कानून हमें कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं बना सकता। कोई मजहब हमें कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं बना सका।

मुझे मालूम है एक पूँजीपति जो कि बड़े अच्छे आदमी माने जाते हैं उनसे किसी ने फौन पर कहा—बेजीटेबिल फैक्ट्री खोलो। तो उन्होंने इन्कार कर दिया। पर आज उन्हीं की कई वैजीटेबिल फैक्ट्री हैं। मतलब क्या ? किस वक्त इन्कार किया ? जब जीवन में धर्म था तब इन्कार किया। जब धर्म नहीं रहा, कर्त्तव्य नहीं रहा, पैसा आ गया - तो जिस जीवन में पैसा निवास करता है—मैं आपसे पूछता हूँ, उस जीवन में कर्त्तव्य आयेगा ही कैसे ? जरा ध्यान दीजिये। जिस जीवन में पद निवास करता है उस जीवन में कर्त्तव्य कैसे आयेगा ? जिस जीवन में सुख की दासता निवास करती है उस जीवन में कर्त्तव्य कैसे आयेगा ?

जिस जीवन में दुःख का भय निवास करता है उसमें कर्त्तव्य कैसे आयेगा ? कदापि नहीं। इसलिये भाई ! आज हमें और आपको सचमुच मानव होना है, सचमुच सिद्धि प्राप्त करनो है तो हर एक भाई को, हर एक बहन को विवेकी होना होगा। और जब आप विवेकी होजायेंगे तब वस्तुओं की दासता से मुक्त होजायेंगे, तब देहाभिमान से भी मुक्त होजायेंगे। जब देहाभिमान से मुक्त होजायेंगे तब पद-लोलुपता से भी मुक्त होजायेंगे। तात्पर्य क्या निकलेगा कि संसार की कोई भी शक्ति आपको अपने आधीन नहीं बना सकती और जिसको संसार

अपने आधीन नहीं बना सकता; मजबूर होकर संसार उसके आधीन होजाता है। जिसके आधीन संसार है वह है—मानव जीवन और जो संसार के आधीन है उसका नाम आप रखना मुझे कुछ नहीं मालूम। कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि आज हम सबको विवेकी होकर कर्त्तव्यनिष्ठ होना है। कर्त्तव्यनिष्ठ होकर राग रहित होना है। राग रहित होकर अनुराग प्राप्त करना है और अनुराग प्राप्त करके अपने जीवन को अपने लिये, जगत के लिये, प्रभु के लिये उपयोगी सिद्ध करना है। और जिसका जीवन सभी के लिए उपयोगी है उसी का नाम है—मानव जीवन और भाई मेरे ! इसी का नाम सिद्धि है।

१७

विश्राम से युक्त, स्वाधीन, चिन्मय, अनन्त-रसमय जीवन की मांग हम सभी को है। उस जीवन की अभिव्यक्ति वस्तु, व्यक्ति. अवस्था, परिस्थिति के आश्रित नहीं है। करुणा से भोग की रुचि और प्रसन्नता से काम का नाश होजाता है। यह भौतिक विकास की पराकाष्ठा है।

भोग वासना से रहित होने पर इन्द्रियों की शक्ति मन में और मन की शक्ति बुद्धि में विलीन होजाती है। बुद्धि सम होजाती है। उसके बाद अहम्-रूपी अणु में इन्द्रिय-जन्य स्वभाव का प्रभाव जब तक रहता है तब तक वह चिन्मय जीवन में नई दुनियां बनाता है। कहता है— उसमें बड़ा प्रकाश है, बड़ा रस है। प्यास बुझे नहीं, रस घटे नहीं, पेट भरे नहीं—जब तक इतनी गहरी प्रियता न होजाय तब तक यह समझना चाहिये कि सत्य के दरवाजे पर नहीं पहुंचे।

अहम्-रहित ज्ञान सिद्ध ज्ञान है, अहम्-रहित बोध सिद्ध बोध है, अहम्-रहित योग सिद्ध योग है और अहम्-रहित प्रेम सिद्ध प्रेम है।

प्रेम की प्राप्ति में जीवन की पूर्णता है।

१७

(अ)

मानव जीवन का मौलिक प्रश्न क्या है ? इस पर विचार करें। तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि जहाँ हमारे सामने जीवन का प्रश्न है वहाँ स्वाधीनता का भी प्रश्न है और अनन्त-रस का भी प्रश्न है। किसी भी भाई से या बहिन से पूछा जाय कि तुम्हें ऐसा जीवन चाहिए जिसमें पराधीनता हो ? तो कहेगा—नहीं। ऐसा जीवन चाहिये जिसमें नीरसता हो ? तो कहेगा—नहीं। ऐसा जीवन चाहिये जिसमें सीमित रस हो ? तो कहेगा—नहीं। तात्पर्य क्या निकला ?—जीवन ऐसा चाहिये जिसमें अनन्त रस हो और पराधीनता तथा जड़ता एवं अभाव की गन्ध न हो। इसके साथ-साथ श्रम-साध्य न हो। विश्राम से साध्य हो। आप कहेंगे श्रम-साध्य क्यों न हो ? कि भाई ! श्रम-साध्य जो वस्तु होती है वह अखण्ड नहीं होती, नित्य नहीं होती। तो क्या आलस्य से साध्य हो ? कि नहीं भाई ! आलस्य में और विश्राम में बड़ा अन्तर है। आलस्य जो है वह प्राणी को जड़ता में, व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध करता है। विश्राम न जड़ता में आबद्ध करता है, न चिन्तन में आबद्ध करता है। कारण, कि चिन्तन के रहते हुए, जड़ता के रहते हुए, पराधीनता के रहते हुए, विश्राम की अभिव्यक्ति नहीं होती। तो विश्राम से युक्त हो, स्वाधीन हो, चिन्मय हो, अनन्त रस हो जिस जीवन में वह जीवन हमको और आपको चाहिये।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या ऐसा जीवन किसी परिस्थिति विशेष में आबद्ध है ? कहना पड़ेगा - नहीं । क्यों ? परिस्थिति कोई ऐसी नहीं होती जो सब प्रकार से पूर्ण हो। परिस्थितियाँ सभी अपूर्ण होती हैं । आप जानते हैं ? बुद्धिमानों से कौनसी भूल होती है ? हम साधारण व्यक्तियों से छोटी भूल होती है पर बुद्धिमान से सबसे बड़ी भूल यह होती है कि वह यह सोचता है कि इस समय जो परिस्थिति हमारे सामने है, यदि मैं ये बदल दूंगा तो मेरे उद्देश्य की पूर्ति होजायेगी। यह वह भूल है महाराज ! जिसमें दुनियाँ के बड़े-बड़े लोग थक गये। परिस्थिति बदलने से हम सबको वास्तविक जीवन की उपलब्धि होजायेगी—यह बड़ी ही भ्रमात्मक बात है। मैं और की क्या कहूँ ! अपने जीवन की बात जानता हूँ। सन् १९१४-१५ से लेकर ३२ तक, ऐसा मेरा अनुमान है कि मैं ये कभी-कभी सोचता था कि जब हिन्दुस्तान में अंग्रेजी राज्य नहीं रहेगा, परिस्थिति बदल जायेगी तो न जाने देश कितना सुन्दर होजायेगा ! ऐसा सोचता था। और यह सोचा करता था कि हमारे जीवन में जितने अभाव हैं, जितनी कठिनाइयाँ हैं, जितने दुःख हैं, उसका कारण दूसरे लोग हैं—चाहे वे हमारे साथ के हों, पड़ौस के हों, देश के हों, विदेश के हों। ये दो बातें सोचता था। पर भाई ! ये दोनों बातें गलत निकलीं। मैं अपनी बीती बात बताता हूं। एक तो ये बात गलत निकली कि जो भाई-बहन यह सोचते हैं कि दूसरों ने हमारा बिनाश किया है, दूसरे हमारी अवनति के कारण हैं—यह बात मुझको बिल्कुल गलत मालूम होती है। और एक यहबात कि परिस्थिति बदलने से जीवन की उपलब्धि होगी—यह बात भी गलत मालूम होती है। क्यों गलत मालूम होती है ? कि भाई ! परिस्थिति जीवन है ही नहीं। परिस्थिति है क्या ? व्यक्तिगत विकास के साधन की सामग्री।

लोग आज घबराते किससे हैं ? कि हाय ! हाय ! हमें ऐसी नौकरी मिली है कि उसमें वक्त ही नहीं मिलता। यानी वे समझते हैं कि हमें ऐसी नौकरी मिल जाती कि हमें वक्त मिले तो शायद हम शान्ति का सम्पादन कर लेते। बिल्कुल गलत बात। कुछ लोग सोचते हैं कि हाय ! हाय ! हम क्या बतायें, हमें शरीर ही अच्छा नहीं मिला। कोई सोचते हैं .... समझ ही अच्छी नहीं मिली। कोई सोचते हैं ... साथी अच्छे नहीं मिले। यहाँ तक कि लोग सोचते हैं कि जब तक अनुकूल कुटिया नहीं मिलेगी .. ध्यान नहीं लगेगा। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यह सब मैंने अपने जीवन में बहुत सोचा है, समझा है, विचार किया है। लेकिन भैया सब गलत साबित हुआ। अगर आप मानव हैं तो आप जहाँ हैं वहीं अपने जीवन को पा सकते हैं। क्योंकि जीवन आपका है। आपके जीवन को आपसे कौन अलग कर सकता है भाई ? किन्तु इस बात पर दृष्टि नहीं जाती। दृष्टि किस बात पर जाती है ? कुछ लोग सोचते हैं कि हमारी जो लड़कियाँ हैं न ! उनका जब विवाह हो जायेगा और हमको एकान्त में २० एकड़ जमीन मिल जायेगी, उस पर साग-तरकारी पैदा कर लेंगे तब हम बहुत बड़ी शान्ति सम्पादन कर लेंगे। भला यह तो बताओ, जिनको ये सब चीजें प्राप्त हैं, उनको शान्ति मिली है क्या ? दुनियाँ में ऐसे आदमी नहीं हैं ? कि जिनके पास बड़े-बड़े फार्म हैं एकान्त में और वह बम्बई-कलकत्ता की गन्दी हवा में पड़े रहते हैं और वहाँ पहुँच भी नहीं पाते।

आप कहेंगे कि जिनके पास यह परिस्थिति है उन्हें समझ नहीं है और हमारे पास समझ है, परिस्थिति नहीं है। रोये जाओ जीवन भर ! मैं तो भाई, ऐसा नहीं मानता हूँ। मुमकिन

है परिस्थिति आने पर तुम्हारी समझ बिगड़ जाय तो ! विचार करो जो परिस्थिति आज है, जिस परिस्थिति को हमने आवाहन किया, जब यह परिस्थिति नहीं थी तब जो हमारी भावनायें थीं, तब जो हमारे विचार थे, तब जो हमारी ईमानदारी थी, वह परिस्थिति आते ही बिदा होने लगी। क्या आप यह दावा करते हैं कि वह परिस्थिति जब आपके पास आ जावेगी तब ऐसे ही समझदार बने रहेंगे जैसे आज इस परिस्थिति में हैं ? इस परिस्थिति की सराहना नहीं करते हैं जिसने इतनी समझ दी आपको। इसलिये भाई, मैं तो इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि हम सबका वर्तमान हम सबके विकास में हेतु है। चाहे दुःखमय है वर्तमान चाहे सुखमय है। अगर हम अपने-वर्तमान को विकास का हेतु नहीं मानेंगे तो जिस भविष्य की हम आशा करते हैं वह भविष्य वर्तमान से बनता है, सरकार !

इसलिये आज प्रत्येक भाई-बहन को दृढ़ आस्था करनी पड़ेगी कि जो हमें मिला है, जो हम जानते हैं, उसी से हमारा विकास होगा। जो नहीं जानते हैं उसके जानने की जरूरत नहीं है। जो नहीं मिला है उसके प्राप्त करने की जरूरत नहीं है। क्यों ? यह जो चीज हमको-आपको मिलती है न ! वह किससे मिलती है ? इस पर थोड़ा विचार कीजिये। भौतिक दृष्टि से आपको मानना पड़ेगा कि किसी विधान से मिलती है। आस्तिक दृष्टि से मानना पड़ेगा कि प्रभु से मिलती है। आध्यात्म दृष्टि से मानना पड़ेगा कि हमें किसी वस्तु की मांग ही नहीं है। ये तीन ही दृष्टि हो सकती हैं जीवन में। तो भैया ! जिस विधान से मिलती है शक्ति, सामर्थ्य, योग्यता, वस्तु वह विधान बेईमान नहीं है, जिस चीज की हमको जरूरत होगी अवश्य मिलेगी। जिस प्रभु से मिलती

है वह प्रभु किसी और का नहीं है। वह यह नहीं कह सकता है कि ये जो शरणानन्द है वह मेरा अपना नहीं है। क्यों ? अगर वह ऐसा कह दे तो उसकी अखण्डता का साम्राज्य ही समाप्त हो जाय। आप विचार कर देखिये – जिसके राज्य में दूसरा स्वतन्त्र अधिकारी बन गया, उसका राज्य रहा क्या ? तो भगवान् में यह सामर्थ्य नहीं है जो कहदे कि दुनियां में कोई भी प्राणी ऐसा है जो मेरा नहीं है। और विधान में बेईमानी होती नहीं। और भैया ! शरीर और विश्व का विभाजन हो सकता नहीं। व्यक्ति और समाज का विभाजन हो सकता नहीं। जीव और ईश्वर का विभाजन हो सकता नहीं। प्रत्येक जीव को ईश्वर के साम्राज्य में रहना पड़ेगा। और प्रत्येक जीव के लिये ईश्वर को अपना मानना पड़ेगा। अगर किसी भी जीव को ईश्वर कहता है— मेरा नहीं है तो उसका साम्राज्य अधूरा हो जायेगा। इसलिये भाई ! बड़े ही धीरज के साथ, बड़ी ही गम्भीरता के साथ इस बात पर विचार करना है कि आपकी जो वर्तमान परिस्थिति है उसको अपने विकास के लिये सर्वोत्कृष्ट परिस्थिति स्वीकार करो। किस रूप में ? —साधन रूप में, साध्य रूप में नहीं।

मैं यह नहीं कहता हूँ कि आप भूखे बैठे हैं तो विश्वास करलें कि भूखा रहना हमारे लिये उचित है। ऐसा नहीं। उस भूख का उपयोग करो। भूख का उपयोग क्या होगा ? जब तक खिलाने वाले को प्रसन्नता न हो तब तक किसी का छीन कर मत खाओ। किसी खाते हुए को देख कर ईर्ष्या मत करो। अपितु प्रसन्नता प्रकट करो। यह आपकी चीज है महाराज ! समाज का ह्रास मालूम है क्यों हुआ ? दुनियाँ में कोई राष्ट्र प्रणाली चाहे वह जनता के पेट से मिनिस्टर निकले,

चाहे रानी के पेट से राजा निकले। चाहे वह सेठानी के पेट से सेठ निकले और चाहे वह मजदूर के पेट से सेक्रेटरी निकले। दुनियाँ में कोई भी राष्ट्र प्रणाली उस समय तक शान्ति की स्थापना नहीं कर सकती जिस समय तक मानव यह न स्वीकार कर ले कि वह अपने से सुखी को देखकर प्रसन्न हो जाय एक दम। और दुखियों को देखकर करुणित हो जाय। यह विश्व-शान्ति का महामन्त्र है। हम लोग क्या सोचते हैं कि जब हमारी प्रणाली संसार में आ जायेगी तब शान्ति आ जायेगी। अच्छा भैया ! किसी देश को आज हमें ऐसा बतादो जिस देश को लड़ाई का सामान न इकट्ठा करना पड़ता हो या जिस देश ने लड़ाई के सामान में ज्यादा अर्थ व्यय न किया हो। है कोई विकसित देश ऐसा ? कोई देश ऐसा है जिसमें सी० आई० डी० की जरूरत न रही हो ? न्यायशाला की जरूरत न रही हो ? फौज की जरूरत न रही हो ? पुलिस की जरूरत न रही हो ? अगर आप यह मानते हैं कि फौज की जरूरत है तो आपको मानना पड़ेगा कि आपके देश का चरित्र बहुत नीचा है। अगर आप यह मानते हैं कि आपके देश में न्यायशाला है तो आपको मानना पड़ेगा कि आपके देश में बेईमान आदमी रहते हैं। अगर आप सी० आई० डी० रखते हैं तो आपको मानना पड़ेगा कि आपकी जनता को आप पर विश्वास नहीं है या आपको जनता पर विश्वास नहीं है। तो क्या यही सुन्दर समाज है ? मैं ऐसा नहीं मानता हूँ।

मैं तो ऐसा मानता हूँ कि जब सुन्दर समाज का निर्माण होगा तब मानव-समाज को सबसे पहले इस बात को सिद्ध करना पड़ेगा कि हम बिना राष्ट्र के रह सकते हैं। और भैया ! जब सत्य का दर्शन होगा तो सबसे पहले स्वीकार करना पड़ेगा कि बिना मत के लेबिल लगाये लोग सत्य को पा सकते हैं। यह

पहचान है। जीवन के दो भाग—बाह्य शान्ति के लिये यदि राष्ट्र की अपेक्षा है तो आप मानव नहीं हैं। और अन्तर-शान्ति के लिये यदि किसी लेबिल की अपेक्षा हो गई है तो आप ठीक मानव नहीं हैं। आप जानते हैं सत्य क्या है? सत्य वह है जिसका आप त्याग नहीं कर सकते। उसका नाम सत्य है। और जिसका आप त्याग नहीं कर सकते वह सत्य आपको अभी प्राप्त है। आप विचार करें—जब आपके जीवन में सुख की घड़ियाँ आती हैं तब क्या आप यह आशा करते हैं कि आपके आस-पास के भाई-बहन आपको देखकर ईर्ष्या करें? बताओ भैया! किस भाई-बहन के मन में यह बात आती है कि हमारे सुख को देख कर दूसरे लोग ईर्ष्या करें और हमारे दुःख को देख कर करुणित न हों? है किसी की यह माँग? आपको मानना पड़ेगा कि मानव-मात्र को यह माँग है कि जब जीवन में दुःख आये तो साथी करुणित हो जायं और जब जीवन में सुख आये तो साथी प्रसन्न हो जायं। कल्पना करो कि आज हमें ऐसे साथी नहीं मिले हैं—मान लिया ठीक है—लेकिन क्या हम अपने साथियों के लिये स्वयं अच्छे नहीं हो सकते हैं? आप विचार करें। जैसा साथी हम ढूंढ़ना चाहते हैं वैसे ही हम दूसरों के लिये वैसे साथी नहीं बन सकते हैं? इसमें तो हम और आप पराधीन नहीं हैं भाई! जितना आपका समाज-सुधार का काम चल रहा है वह मालूम है किस पर चल रहा है? दुःखियों को देख कर हृदय करुणित हो जाय, सुखियों को देख कर चित्त प्रसन्न हो जाय। अगर सुन्दर समाज का निर्माण न हो जाय तो तुम जो चाहो सो करना। पर जब तक भैया, हाय! हाय!! समाज में जितना अमुक आदमी का सम्मान है—हमारा तो है नहीं—क्या होगा? ऊपर से करोगे खुशामद और भीतर से कहोगे कि इससे

हम आगे बढ़ जाते तो अच्छा होता। यह सुन्दर समाज के निर्माण का साधन नहीं है बल्कि समाज के बिगाड़ने का साधन है। क्यों? आप दूसरों के सम्मान को, दूसरों के आदर को, दूसरों के प्यार को, दूसरों के सुख को क्यों नहीं सहन करते?

एक घटना हमें याद आ गई। हमारे बड़े अच्छे मित्र थे। बड़े अच्छे आदमी थे। महाराज! वेदान्त को चाटे बैठे थे। आप आश्चर्य करेंगे कि उनकी स्त्री भी वेदान्ती थीं। दूसरी बात बतायें आपको, तीस वर्ष की आयु से वे लोग ब्रह्मचर्य से रहते थे। इतना संयम, इतना सदाचार, इतना वेदान्त। घटना क्या घटी! उनके पति की मित्रता हुई किसी महिला से-चरित्र-हीनता को लेकर नहीं—सिर्फ इस बात को लेकर कि वह उन्हें गुरू मानती थी। गुरू-भाव सम्मान-आदर को लेकर। महाराज! पति-पत्नी में वह कलह हो गई जिसकी हद नहीं। पत्नी ने की शिकायत। हमने उनसे कहा कि तुम्हारा पति यदि किसी खिलौने से प्रसन्न होता है तो तुम्हें सहन क्यों नहीं होता? अरे! सारा जगत मिथ्या है तो यह बात कौन सत्य है? उनसे कहा कि भले आदमी! तुम्हें गुरू बनने का शौक है तो उसी की चेली बना देते उसे। गुरू का काम तुम करते और चेली उसकी बनाते। यह दशा हो गई आज हमारे व्यक्तिगत जीवन की कि आज की पत्नी ईमानदारी से पति की खुशी में भाग नहीं ले सकती। आज का पति ईमानदारी से पत्नी की प्रसन्नता में भाग नहीं ले सकता। जब यह दशा है जीवन की तो समाज का उत्थान होगा? अरे! व्यक्ति का पतन हो और समाज का उत्थान हो जाय! यह कभी सम्भव नहीं है। इसलिये भाई! अपने से सुखियों को देख कर आप प्रसन्न हो जाय। अपने से

दु:खियों को देख कर आप करुणित हो जायं। जिस हृदय में करुणा निवास करती है उस हृदय में भोग की रुचि नहीं रहती। और जिस चित्त में प्रसन्नता निवास करती है उसमें काम की उत्पत्ति नहीं होती। आप हो जायेंगे भोग की बासना से रहित और काम से रहित। यह भौतिक जीवन की पराकाष्ठा हो गई।

जिस क्षण आप काम से रहित होते हैं, भोग की रुचि से रहित होते हैं, उसी क्षण जो शक्ति बुद्धि के स्तर पर आकर मन में, और मन के स्तर पर आकर इन्द्रियों में और इन्द्रियों के स्तर पर आकर प्रवृत्ति की ओर जाती थी, गतिशील होती थी, वह स्वभाव से वह शक्ति उल्टी हो जाती है और उल्टी होकर इन्द्रियों की शक्ति उसके मन में विलीन होती है, मन उसका निर्विकल्प होता है, बुद्धि उसकी सम होती है और इन्द्रियां विषय-विमुख होती हैं। लेकिन वहां एक बड़ा विघ्न रह जाता है शेष अहं रूपी अणु। वह जो अहं रूपी अणु है उसमें इन्द्रिय-जन्य स्वभाव का जब तक प्रभाव रहता है तब तक वह चिन्मय जीवन में एक नई दुनियां बनाता है। ऐसी नई दुनियां बनाता है, कहता है—बड़ा प्रकाशमय है, बड़ा दिव्य है, बड़ा सौन्दर्य है और उसमें बड़ा रस है। और वह इस बात को अच्छी तरह जानता है कि भोग में उसकी प्रवृत्ति नहीं है और उसके जीवन में पराधीनता भी नहीं है। उसे अपने ही भीतर एक चिन्मय जगत की अनुभूति होती है। वहां उसे सन्देह होता है कि क्या यही जीवन है या इससे और भी कोई जीवन है? हां भाई! इससे और भी जीवन है। क्या जीवन है? कि यदि तुम्हारे सामने यह बता दिया जाय कि यह जीवन है तो तुम्हारा अहं उसी को आरोप कर लेगा। देखिये! यह जो सन्त-मत में

और आस्तिक मत में जो अनेक प्रकार के वर्णन हैं, कि ऐसा है, कि ऐसा है, वह गलत नहीं हैं। सब ठीक है। लेकिन भाई ! जितना कहा गया, जितना समझ में आया, जितने का अनुभव हुआ—उससे आगे है। तो उसमें प्रवेश कैसे हों ? उसके लिये एक युक्ति बड़ी सुन्दर।

एक दफा हमसे एक बड़े प्रतिष्ठित समझदार धार्मिक आदमी से भेंट हुई। उन्होंने शिष्टाचार के नाते हमसे कह दिया कि हमें अच्छी बात सुनाइये। हम सोचने लगे कि यह हमको बीसों वर्ष पढ़ायेगा, ये तो बड़ा योग्य है, प्रतिष्ठित है, क्या सुनायें ! हमने उससे एक बात कही कि एक बात बताओ—जो जीवन तुम्हें सबसे अच्छा लगता है, उसके सदैव न रहने की व्यथा क्यों नहीं है तुम्हारे जीवन में ? बताओ जो बात तुम्हें चौबीस घण्टे में सबसे अच्छी लगी कि इससे अच्छा और कुछ नहीं है, उसके सदैव न रहने का दुःख क्यों नहीं है ? जो चीज तुमको अच्छी नहीं लगती है उसके आजाने का दुःख क्यों नहीं है ? बड़े आदमी तो थे ही, समझदार-विद्वान थे ही। बड़े चकराये। अगर हम किसी अंग्रेजी साहित्य की बात कहते तो बीस सुना देते प्रमाण में। संस्कृत साहित्य की बात कहते तब भी सुना देते क्योंकि पढ़े-लिखे थे, विद्वान थे, समर्थन कर देते और कह देते कि आप जो बात कहते हैं हम भी जानते हैं। आपको मालूम है बड़े आदमी का सत्संग। आज कल मालूम है कैसा होता है ? भीतर से बड़े अभाव की अनुभूति करते है। समाज में मिल गया ऊँचा स्थान, अब भय के मारे अपनी कमजोरी किसी के सामने रख नहीं सकते।

मैंने अबकी गीता प्रेस के सत्संग में यह कहा कि हम यह चाहते हैं कि जो लोग गुरूपद को प्राप्त कर चुके हैं, वे और हम

जरा मिल कर विचार विनिमय करें। एक भीगुरू नहीं आया महाराज ! सारी दुनियां को बहकायें और दिल खोल कर परस्पर बात नहीं करेंगे। मतलब क्या होगा ? जब जरा गुरू बन कर विचार बिनिमय करेंगे तब पता चलेगा—लाला कहां हैं ! तो भाई इसका साहस लोगों को नहीं होता। मेरा निवेदन यह था कि भीतर से तो वे सज्जन परेशानी का अनुभव करते थे ही—कहा कि आपने बड़ी अच्छी बात कही और कह कर चुप हो गये। क्या कही ? कुछ नहीं कहा। कैसे कहें ! इस पर थोड़ा विचार करें। यहतो आप जानते हैं कि ध्यान करने वाले को ध्यान में पूरा समय अच्छा नहीं लगता। कुछ काल आता है तब कहता है कि बड़ा अच्छा लगा। विचार करने वाले को बिचार में पूरा विचार उसको अच्छा नहीं लगता। कुछ समय आता है जब कहता है—बड़ा अच्छा था। ऐसे ही चिन्तन करने वाले को चिन्तन में पूरा समय एकसा अच्छा नहीं लगता। कुछ समय आता है जब उसको सबसे अच्छा लगता है। ऐसे ही जिन्हें अनुभूतियां आती हैं, चमत्कार दिखाई देते हैं, उन्हें भी सभी अनुभूतियां, सभी चमत्कार अच्छे नहीं लगते। कोई सबसे अच्छा लगता है। तो जो सबसे अच्छा लगता है यदि वह सदैव रहता है, हटता नहीं, मिटाने से मिटता नहीं और तृप्ति कभी होती नहीं और प्रीति उत्तरोत्तर उसमें बढ़ती हो। ऐसा भी एक जीवन है जो घटता, मिटता नहीं है लेकिन प्रीति उत्तरोत्तर नहीं बढ़ती है। रस की अभिव्यक्ति उत्तरोत्तर नहीं होती है।

तो जब तक ऐसी दशा न हो जाय (भाषा तो संकेत है उसमें, अर्थ पर दृष्टि रखिये।) कि किसी को बड़े जोर की प्यास लगी हो और उसी समय मधुर, शीतल, बड़ा सुन्दर जल उसको प्राप्त हो जाये लेकिन जल कैसा हो कि कभी घटे नहीं,

प्यास कैसी हो कि कभी बुझे नहीं और तृष्णावन्त का पेट कैसा हो कि जो भरे नहीं --क्या कहेंगे ? —जल घटता नहीं, प्यास बुझती नहीं, पेट भरता नहीं। कहेंगे—नित नव रस है। महाराज ! प्रत्येक घूंट में नित-नव रस है। और रस की अनुभूति भी है। तो जब तक इतनी गहरी प्रियता पैदा न हो जाय भैया ! तब तक यह समझना चाहिये कि सत्य के दरवाजे पर नहीं पहुंचे।

जब तक इतनी गहरी प्रियता—आप जानते हैं ! उसकी प्रियता में क्या दशा होती है ? — कोई-कोई प्रेमी तो यह कहते हैं कि हम क्या बतायें ! इन आँखों ने (भौतिक आँखों ने नहीं वह भीतरी आँखें) जब से उस रूप माधुरी को देखा हमें छोड़ कर चली गईं। आँख लग गई माधुरी-रूप में, हम रह गये ठन-ठनपाल। इस वाणी ने जब से उसके गुणानुवाद का रस चखा वाणी हमें छोड़ कर चली गई। तात्पर्य है कि यह जो रस अनुभूतियाँ होती हैं वह रस की अनुभूति करने वाली शक्ति चिन्मय होने पर भी हमारे पास नहीं है। दिव्य होने पर भी हमारे पास नहीं है। और भैया ! उस रस का पारावार नहीं है, घटता नहीं है, मिटता नहीं है, पूरा होता नहीं है। आप ही बताओ ! कौन आदमी गवाह मिलेगा ? क्या ठीक है ! गवाह तो उसका न ! मिलेगा, वर्णन उसका न ! होगा जो वर्णन करने वाली शक्ति के किसी अंश में होगा।



१७

(ब)

और वर्णन करने वाली शक्ति जिसके एक अंश में है, आप विचार करो ! उसका वह वर्णन कैसे कर सकेगी ? इसलिए भाई ! जो सबसे अच्छा लगता है, उसको सदैव रहने दो। देखिये, एक-एक चीज के रस का वर्णन कोई नहीं कर सकता। और बात जाने दीजिए, स्मृति को लेलीजिए । एक स्मृति ऐसी होती है कि चिन्तन का रूप धारण करके तन्मय कर देती है। और एक स्मृति मालूम है कैसी है ? कि एक बार-एक बार हाय ! निकल जाय, एक बार तो महाराज ! शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण और पांचों कोषों को ठुकराकर पार हो जाती है। वह भी तो एक स्मृति है। और एक यह भी स्मृति है कि तोते की तरह रटते रहें। क्रिया के वेग बहुत अधिक। और एक ऐसी स्मृति है कि क्रिया का वेग घटता जाता है, भाव का रस बढ़ता जाता है। और एक ऐसा कि भाव का रस बढ़ता जाता है, अहं गलता जाता है। भैया ! जब तक भाव का रस इतना न बढ़ जाय कि अहं को खा जाय। जब तक प्रीति इतनी न हो जाय कि अहं को खा जाय। जब तक ज्ञान इतना न होजाय कि अहं को खा जाय। जब तक योग इतना न हो जाय कि अहं को खा जाय। योग अहं-रहित, बोध अहं-रहित, प्रेम अहं-रहित। तो अहं-रहित जो योग है वह सिद्ध

योग है। और अहं-रहित जो ज्ञान है वह सिद्ध ज्ञान है। और और अहं-रहित जो प्रेम है वह सिद्ध प्रेम है। तो जहां सिद्ध प्रेम है वहाँ सिद्ध बोध है, वहां सिद्ध योग है। इन तीनों में कभी विभाजन नहीं होता। क्यों बिभाजन नहीं होता ? अगर आप बोध में से योग और प्रेम को निकाल दें तो असमर्थता और अभाव आजावेगा। अभाव कहो या शून्यवाद आजायेगा। बोध में से, ज्ञान में से प्रेम को निकाल दीजिये तो शून्य आजायेगा, अभाव आजावेगा। महाराज ! प्रेम में से ज्ञान निकाल दीजिये तो काम आजायेगा। और ज्ञान और प्रेम में से योग को निकाल दीजिये, असमर्थता आजायेगी।

इसलिये भाई ! न तो ज्ञान में से प्रेम का विभाजन हो सकता है और न प्रेम में से ज्ञान का विभाजन होसकता है और न ज्ञान और प्रेम में से योग का विभाजन होसकता है। इनमें से किसी एक का भी विभाजन नहीं कर सकते। विभाजन करने वाली कौन सी चीज है ? जिसने योग के रस का भोग किया, वह कहता है–"मैं योगी"। तो जब "मैं योगी"— तो तत्वज्ञ कैसे हो सकता है ? भैया ! फिर—"मैं प्रेमी"—कैसे हो सकता है ? तो योग के रस का भी भोग नहीं करना है, बोध के रस का भी भोग नहीं करना है, प्रेम के रस का भी भोग नहीं करना है। तो भाई ! प्रेम से क्या करना है ? कि भाई ! प्रेम तो प्रेमास्पद को रस देने के लिए है। यह जो प्रेम है जीवन में, वह अपने रस के लिए नहीं है। प्रेम है प्रेमास्पद को रस देने के लिए। और बोध है भेद के नाश के लिये, अहं के नाश के लिए। और योग ? योग है असमर्थता का नाश करने के लिए। योग के बिना असमर्थता का नाश नहीं होगा।

बोध के बिना न तो अहं का नाश होगा और न भेद का नाश होगा। और प्रेम के बिना प्रेमास्पद को रस नहीं दे पाओगे। तो प्रेम प्रेमास्पद को रस देने के लिए है। बोध अहं और भेद के नाश के लिए है। योग असमर्थता के नाश के लिए है। तो ये हैं क्या? ये तीनों उस अनन्त की विभूतियां हैं। ये तीनों विभूतियां मानव को प्रभु ने कृपा करके प्रदान की हैं। आप कहेंगे—यह बात गलत मालूम होती है। भला, मानव तो हम सब हैं। न हमको योग प्राप्त है, न हमको बोध प्राप्त है और न प्रेम प्राप्त है। तो भाई! क्यों नहीं प्राप्त है?—इसलिए कि हमने मानव जीवन में जो मानवता बीज रूप से प्राप्त है, उसे विकसित नहीं किया। बीजरूप से क्या मानवता प्राप्त है?—मानवता तीन रूप से आती है। पहला उसका रूप है—मिले हुए का सदुपयोग, दूसरा उसका रूप है—जाने हुए का प्रभाव, तीसरा उसका रूप है—सुने हुए में अविचल आस्था।

ये तीन मानव की विभूतियां हैं। योग-बोध-प्रेम ये अनन्त की विभूतियां हैं। और ये तीन विभूतियां मानव को प्रभु ने दी हैं। कौन-कौन सी?—कि प्रत्येक भाई मिले हुए का सदुपयोग कर सकता है, प्रत्येक भाई-बहन के जीवन में जाने हुए का प्रभाव होसकता है, प्रत्येक भाई-बहन सुने हुए में आस्था रख सकता है। ये जो तीन आपकी विभूतियां हैं, मानव को मिली हैं। इन तीनों विभूतियों को अपनालो और निर्णय कर लो कि बल जो है यह निर्बल की सेवा के लिए है। आज बल का प्रयोग किस पर होता है? हम किसी बड़े-से-बड़े नीतिज्ञ से बात करें, जो समाज विज्ञान का बड़ा पण्डित हो उससे हम पूछें—

भैया! तुम जो लड़ाई का सामान इकट्ठा कर रहे हो, क्या इस बल से तुम समान बल वाले पर विजयी होजाओगे? भैया? कोई सिद्ध कर सकता है? या बल के द्वारा कोई समान बल पर विजयी हो सकता है? अधिक बल वाले पर तो प्रश्न ही नहीं आता। तो जो लोग यह सोचते हैं कि हम बल के द्वारा अपनी रक्षा करेंगे। समाज में, विश्व में शान्ति की स्थापना करेंगे तो आप सोचिये कि जो अधिक बल वाला होगा उस पर विजयी नहीं हो सकते। और समान बल वाले पर विजयी नहीं होसकते। तो बल का उपयोग किसमें होगा? संघर्ष में कि सेवा में? अगर आप विश्व की शान्ति चाहते हैं तो बताओ! अगर बल का उपयोग यदि सेवा में होगा तो आप ही बताइये कि लड़ाई के सामान की क्या जरूरत है भैया? अगर बल का उपयोग सेवा में करना है तो जीवन की रक्षा वाली सामग्री का संग्रह करना चाहिए, उत्पादन करना चाहिये न कि लड़ाई का सामान। जो देश लड़ाई का सामान तैयार कर रहा है वह इस बात को प्रकाशित कर रहा है कि मैं निर्बल को खा जाऊँगा। निर्बल क्या कर रहा है? कि हम अनेक निर्बल एक होकर इतने सबल होजायेंगे कि तुम्हें खा जायेंगे। यह विकास का साधन है कि ह्रास का?

आप विचार करें, गम्भीरता से विचार करें कि जब तक हम और आप बल का सदुपयोग नहीं करेंगे—लोगों ने आक्षेप किया कि महाजन लोग बल का दुरुपयोग करते हैं। मैं आपसे पूछता हूँ कि मजदूर लोग क्या बल का सदुपयोग करते हैं? अच्छा भैया! कौनसा मजदूर दल का लीडर है जो किसी सेठ से कम आराम से रहता हो? बताओ! है कोई? यानी

मजदूर दल का लीडर टेलीफोन से बात करता है, हवाई जहाज में सफर करता है, है मजदूर दल का लीडर। तो जब तक मानव समाज लीडरों के जाल में रहेगा इसका कभी विकास नहीं होगा। और जब तक आस्तिक समाज गुरू के जाल में— माफ कीजिये, मैं गुरू का खण्डन नहीं कर रहा हूँ। गुरू का जाल अलग, गुरू अलग है। गुरू की तो मैं महिमा गाता हूँ। गुरू का जाल मालूम है क्या है? गुरू-जाल किसको कहते हैं? जो गुरू यह कहे कि देखो! अगर तुम हमारे सिद्धान्त को नहीं मानोगे तो तुम्हारा उद्धार नहीं होगा। ऐसा गुरू! कि देखो! कलमा नहीं पढ़ोगे तो जान से मार देंगे। देखो! बाइबिल नहीं पढ़ोगे तो जान से मार देंगे। कि देखो! तुम ईश्वर को नहीं मानोगे तो तुम्हारा नाम नास्तिक में लिख देंगे। यानी वह गुरू जो एक देशीय साधन का समर्थक— इसको कोई भाई यह न समझ बैठे कि जितने मत हैं, सम्प्रदाय हैं उनके साधन में मैं श्रद्धा नहीं रखता हूँ। मैं हर एक साधन को सत्य मानता हूँ। किसी साधन को गलत नहीं मानता। मत सत्य है, मत-वाला पागल है। मत है सत्य और मत होता है पथ। और पथ होता है उद्देश्य तक पहुंचने का साधन। आज लोग क्या कहते हैं? कि देखो! हमारे स्वामी जी से दीक्षा नहीं लोगे तो तुम्हारा उद्धार नहीं होगा। अरे भैया! तुम्हारा हो न हो, पर तुम्हारे स्वामी जी का उद्धार नहीं होगा। ये बात जब तक आस्तिक समाज में रहेगी।—हां, अपने मत के द्वारा तुम अपना उद्धार कर लो। बहुत ठीक, बहुत सुन्दर बात! जिस साधन में तुम्हारी आस्था हो, उस साधन के द्वारा तुम अपना उद्धार करलो। इसका विरोध नहीं करता। लेकिन अगर आप यह फैलाते हैं मानव समाज में कि नहीं! नहीं!! जो बात

हम कहते हैं उसको नहीं मानोगे तो तुम्हारा उद्धार नहीं होगा। यह बात गलत है। यह बात सही नहीं है। तो क्या कहना चाहिये ? कि जो तुम जानते हो उसको मानो। तो हम सब जानते हैं कि बल निर्बल की सेवा के लिए है। हम सब जानते हैं। जब बल निर्बल की सेवा के लिए है तो मैं आपसे पूछता हूँ कि राष्ट्र की क्या जरूरत होगी ? अगर आपने यह मान लिया कि हम अपने बल का कभी दुरुपयोग नहीं करेंगे, कभी निर्बल को नहीं सतायेंगे तो राष्ट्र की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है।

आज की जो भयंकर परिस्थिति है उसमें यह बात अत्यन्त आवश्यक है कि मानव-मात्र इस बात को स्वीकार करे कि हम बिना राष्ट्र का समाज निर्माण करेंगे। यह बहुत जरूरी है यदि विश्वशान्ति चाहते हो तो। उसका साधन है– मिले हुए बल का दुरुपयोग मत करो। तुम्हारी सौ बार गरज हो सदुपयोग करो, मत करो, लेकिन दुरुपयोग मत करो। जब बल का दुरुपयोग नहीं होता तो राष्ट्र अपेक्षित नहीं रहता। ऐसे ही दूसरी बात– जाने हुए का अनादर मत करो। अगर जाने हुए का अनादर नहीं करते तो बाह्य गुरू, ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं रहती। कोई गुरू, कोई ग्रन्थ आपको उससे अधिक नहीं बता सकता जो तुम जानते हो। क्या तुम नहीं जानते कि उत्पन्न हुई वस्तु से हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं है ? कौन-सा बेदान्त-दर्शन इससे ज्यादा बता देगा ? मैं पूछता हूं आपसे ! आप भी जानते हो कि उत्पन्न हुई वस्तु से हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं है। अस्वीकार करदो, निर्वासना प्राप्त होगी। तत्व-साक्षात्कार होगा। फिर ग्रन्थ में देखो, वह तुम्हारे अनुभव

का समर्थन करेगा। इस नाते ग्रन्थ की पूजा करो, आदर करो। लेकिन ग्रन्थ की प्रक्रिया रट ली, सीख ली और अपने जाने हुए का किया अनादर। अरे! एक जन्म नहीं, अनेक जन्म रटो, कोई लाभ नहीं होगा। इसलिए जाने हुए का आदर करने पर दर्शन तुम्हारे जीवन में अवतरित होगा। तीसरी बात—हम सबने ईश्वर को नहीं सुना क्या? अगर सुने हुए प्रभु में तुम आस्था करलो भाई! तो आप जानते हैं? जहां आस्था होती है वहां विश्वास आजाता है और विश्वास का फल है कि वह सम्बन्ध जोड़ देता है। और प्रभु-प्राप्ति विश्वास के आधीन है।

आप झगड़ा किस बात पर करेंगे? कि नहीं! नहीं!! हम निराकार मानेंगे, हम राम को मानेंगे, हम कृष्ण को मानेंगे, हम शिव को मानेंगे। अरे भाई! क्यों लड़ते हो? तुम चाहे जिसको मानो। सुने हुए प्रभु में जब तुम्हारी आस्था होजायेगी तब विश्वास उदय होगा। जब विश्वास उदय होगा तब विश्वास के आधीन है 'सम्बन्ध' और सम्बन्ध के आधीन है 'स्मृति' और स्मृति के आधीन है 'प्रीति' और प्रीति के आधीन है 'प्राप्ति'। तो प्रत्येक प्रभु-विश्वासी को प्रभु की प्राप्ति हो सकती है। जो अपने ज्ञान का आदर करेगा उसे तत्व-ज्ञान हो सकता है। जो मिले हुए का सदुपयोग करेगा वह कर्त्तव्यनिष्ठ होसकता है। तात्पर्य क्या निकला? कि हर एक भाई-बहन कर्त्तव्यनिष्ठ होकर जीवन को जगत के लिए उपयोगी सिद्ध कर सकते हैं। प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन जाने हुए का आदर करके जीवन को अपने लिये उपयोगी सिद्ध कर सकते हैं।

आज हमारा जीवन अपने लिए उपयोगी क्यों नहीं है ? क्योंकि जाने हुए का आदर नहीं करते। हम और आप जानते हैं कि किसी भी वस्तु से हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं है, पर उसकी ममता का त्याग नहीं करते। तो जब अहंता और ममता का त्याग नहीं करते तब निर्वासना प्राप्त नहीं होती। जब निर्वासना प्राप्त नहीं होती तब तत्व-ज्ञान प्राप्त नहीं होता, तत्व-ज्ञान की अभिव्यक्ति नहीं होती। दूसरी बात–सुने हुए प्रभु में आस्था नहीं रखते। जब आस्था नहीं रखते तो वस्तु-विश्वास नहीं टूटता, व्यक्ति विश्वास नहीं टूटता तो निर्विकारता नहीं आती। जब प्रभु विश्वास नहीं करते तो स्मृति उदय नहीं होती। कहने का तात्पर्य है कि यह जो मानव जीवन की तीन विभूतियां हैं—कि प्रत्येक भाई मिले हुए का सदुपयोग कर सकता है, जाने हुए का आदर कर सकता है, सुने हुए में आस्था रख सकता है। तो भाई हम सबको तीन बातें प्राप्त होसकती हैं; भौतिक-दृष्टि से—विश्व प्रेम की प्राप्ति, अध्यात्म-दृष्टि से—तत्वनिष्ठा और आस्तिक-दृष्टि से–प्रभु प्रेम। ये तीनों मिल सकते। मिला क्या ?– प्रेम। प्रेम प्राप्त हुआ। अब जहां प्रेम की अभिव्यक्ति है जीवन में, आप ही बताओ ! प्रेम ने प्रेमास्पद से भिन्न को कभी देखा ? कोई भी प्रेमी इस बात को सिद्ध कर सकते हैं क्या ? कि प्रेमी की दृष्टि में प्रेमास्पद से भिन्न कोई और हो ! अच्छा, कोई भी प्रेमी यह सिद्ध कर सकते हैं क्या ? कि प्रेमी ने प्रेमास्पद से कुछ मांगा हो ? कोई सिद्ध नहीं कर सकता। किसी प्रेमी ने प्रेमास्पद से कुछ नहीं मांगा और किसी प्रेमी की प्रेमास्पद से भिन्न पर दृष्टि नहीं गयी। तात्पर्य क्या निकला ?—ऐसा कोई प्रेमी आपको मिले जो आपसे प्रेम करे और आपसे कुछ न मांगे। आप उसको प्रेम करेंगे कि नहीं ?

करेंगे। तो प्रेमास्पद प्रेम होगया और प्रेमी प्रेमास्पद होगया। लेकिन क्या प्रेमी यह चाहता है कि मेरा प्रेमास्पद प्रेमी हो जाय ? यह प्रेमी की मांग नहीं है। प्रेमी यह नहीं कहता कि मेरा प्रेमास्पद प्रेमी हो जाय। लेकिन यह प्रेमास्पद का स्वभाव है कि प्रेमास्पद प्रेमी हो जाता है। क्यों ? प्रेमास्पद कहते ही उसको हैं जो सब प्रकार से पूर्ण है। जो सब प्रकार से पूर्ण है वह चाह से रहित है। और इधर प्रेमी ! प्रेमी कहते ही उसे हैं जो पूर्ण न होने पर भी न चाहे। यही तो तारीफ की बात है।

आप जानते हैं ? जीव का जन्म-सिद्ध अधिकार है—मोक्ष प्राप्त करना। जीव का जन्म-सिद्ध अधिकार है- भोग प्राप्त करना। उत्कृष्ट भोग की प्राप्ति जीव को होती है न ! भाई। यदि ब्रह्म-लोक का सुख मिलेगा तो जीव को ही मिलेगा। इन्द्र-लोक का जो सुख मिलेगा वह जीव को मिलेगा। देश की स्वाधीनता का जो सुख मिलेगा वह जीव को मिलेगा। सुख का भोगी जीव होगा कि परमात्मा सुख का भोगी होगा ? जीव के दो अधिकार—उत्कृष्ट भोग और मोक्ष। लेकिन जब उसे प्रेम की प्राप्ति होती है तब न भोग चाहता है न मोक्ष चाहता है। तो भोग और मोक्ष को जब ठुकरा देता है जीव, तब उसमें प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। और जब उसमें प्रेम की अभिव्यक्ति होती है तो उस प्रेम के लिये प्रेमास्पद ने मानव का निर्माण किया। वह प्रेम जो भोग और मोक्ष की वासना से रहित होने पर प्राप्त होता है, वह प्रेम जीव में व्यक्त होता है। और उस प्रेम को पाने के लिए आप जानते हैं ! वह ब्रह्म जो निर्विशेष है, वह मैया यशोदा की गोद में आकर खेलता है। वह ब्रह्म श्रीदामा के साथ आकर मित्रता

करता है। वह ब्रह्म अम्मा कौशिल्या की गोद में आकर खेलता है। वह ब्रह्म निषाद को सखा बनाता है। किसलिये भैया ?—प्रेम रस के आस्वादन के लिए। तो जिस प्रेम-रस के आस्वादन के लिए ब्रह्म तरसता है उस प्रेम-रस में कितना रस होगा ! इसका कोई वर्णन कर सकता है ? नहीं कर सकता। वह प्रेम कब प्राप्त होता है ?—अब आयें हम मतवाले पन पर। मैं भी तो मतवाला हूँ। वह प्रेम तब प्राप्त होता है जब प्राणी एक बात मानले। कौनसी बात ?—हम पर जो प्रभु का अधिकार है उसे हम पूरा करेंगे और अपने अधिकार का त्याग करेंगे। हम पर जो समाज का अधिकार है उसे हम पूरा करेंगे और अपने अधिकार का त्याग करेंगे। हम पर जो हमारे साथियों का अधिकार है उसे पूरा करेंगे और हम अपने अधिकार का त्याग करेंगे। यह क्या है ? यह कर्त्तव्य परायणता है—दूसरों के अधिकारों की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग। इस बात को अपनाते ही, आप जानते हैं क्या होगा ? राग-रहित होजायेंगे और क्रोध-रहित होजायेंगे। आप कहेंगे कैसे ?

यह मानव जीवन का सबसे पहला विकास है—राग-रहित होना और क्रोध-रहित होना। क्रोध कब आता है ? जब कोई हमारे अधिकार का अपहरण करता है। अपहरण नहीं किया और पूरा किया तब ? तब नवीन राग पैदा नहीं होता। तो हमारी तो समझ में नहीं आती कि आज का समझदार मानव अधिकार-लालसा को विकास मानता है। जब अधिकार लालसा की पूर्ति विकास है तब मेरी समझ में नहीं आता कि ह्रास किसका नाम है ! तो भैया ! अधिकार त्याग की बात अगर आप नहीं अपनाते हैं तो नवीन राग की उत्पत्ति होगी।

आज की स्त्री समझती है कि हमने बड़ा विकास कर लिया।

क्यों ? बोले—पति से अधिकार ले लिया। पति समझता है कि हमने बड़ा विकास कर लिया। अरे ! अधिकार ले लिया कि अधिकार के भोग करने से पति की सदा के लिये दासी बन गई जो स्वामिनी थी ! अधिकार त्याग करके स्त्री पति की स्वामिनी और अधिकार मांग करके दासी बन जाती है महाराज ! जो समाज से अधिकार मांगता है वह समाज का दास, जो अधिकार देकर अपना अधिकार छोड़ता है वह समाज का स्वामी। तो भैया ! अगर अधिकार त्याग की बात नहीं अपनाते हैं तो क्या होगा ? अगर अधिकार पूरा होगया तो नवीन राग की उत्पत्ति। हमने देखा है बड़े-बड़े सेठों को किसका चिन्तन करते हैं ?—कि क्या बतायें ! हुक्मी चला गया तब से हमको बड़ा कष्ट है। हुक्मी की हैसियत क्या ? कि एक छोटा-सा नौकर रोटी बनाकर देता है। और आप ?—कि हम तो मिल-आनर हैं। तो मिल-ओनर के मन में चिन्तन किसका होता है ?—उस मजदूर का होता है जिसने उनके अधिकार की रक्षा की। बोले—महाराज जी ! हुक्मी इतना अच्छा आदमी था कि खिलाते समय इतने प्यार से खिलाता था, चाहे उसके लिए कुछ न बचे, तब भी खिला देता था। अब आप सोचिये ! उस मजदूर ने मिल-ओनर को अपना गुलाम बना लिया। तात्पर्य यह था कि अधिकार लालसा से रहित मजदूर मिल-ओनर का स्वामी होसकता है, निःसन्देह हो सकता है। ऐसे ही भैया ! अधिकार-लालसा से रहित भक्त भगवान् का भगवान् हो सकता है। लेकिन यह मान मत लेना कि भगवान् का भगवान् होता है। यह मत सोच लेना वरना चौपट होजायेगा।

मैं आपसे पूछता हूँ कि भगवान् श्याम सुन्दर ने किससे यह कहा कि तुम एक बार कहदो कि मैं तुम्हारा हूँ—उन बेपढ़ी-

लिखी गोपियों से कहा महाराज ! क्यों कहा ? क्योंकि उन्होंने अपना अधिकार छोड़ दिया था। उनके अधिकार की रक्षा की थी। तो भैया मेरे ! इस बात को अगर आप नहीं अपना सकते कि हम पर जो दूसरों का अधिकार है—जीव होकर ईश्वर के अधिकार की रक्षा, व्यक्ति होकर समाज के अधिकार की रक्षा, शरीर होकर विश्व के अधिकार की रक्षा और सम्बन्धी होकर सम्बन्धी के अधिकार की रक्षा, और अपने अधिकार का त्याग। यह है - कर्त्तव्य परायणता। इस कर्त्तव्य परायणता की भूमि में क्या प्राप्त होता है ? —योग प्राप्त होता है। कैसे ? विचार करें—जिस समय हमारे अधिकार की रक्षा नहीं होती तब आता है—क्रोध। क्रोध का फल है—विस्मृति। तीन बात की विस्मृति होती है—कर्त्तव्य की, अपने स्वरूप की, अपने प्रेमास्पद की। जहाँ क्रोध आयेगा महाराज ! वहाँ विस्मृति आजायेगी। अधिकार पूरा हुआ तो राग आजायेगा। जहाँ राग होगा वहाँ पराधीनता और जड़ता जरूर आजायेगी।

आप ही सोचो —'जड़ता, पराधीनता और विस्मृति' हमको आपको अभीष्ट है ? जी ?-नहीं है। तो अधिकार त्याग अनिवार्य होगया कि नहीं ? यदि अधिकार त्याग नहीं करते तो न पराधीनता से बचते हैं, न विस्मृति से। इसलिये भाई, मानव जीवन में अधिकार लालसा का कोई स्थान नहीं है। किन्तु भाई ! यदि तुम यह सोचलो कि हमने अपना अधिकार छोड़ दिया, दूसरों का क्यों दें ! तो गड़बड़ होजायेगी। क्योंकि विद्यमान राग नाश नहीं होगा। अधिकार लालसा नवीन राग को जन्म देती है। और दूसरों के अधिकार को न देना यह विद्यमान राग को सुरक्षित रखता है। लेकिन अपने को होना है—राग-रहित। क्योंकि राग-रहित हुए बिना मानवता का बिकास नहीं होता।

राग-रहित होने से क्या लाभ होगा ? जहाँ आप राग-रहित होगये तब अपने आप योग प्राप्त होगा। जैसे राग की भूमि में भोग वासना की उत्पत्ति होती है ऐसे ही राग-रहित भूमि में योग का उदय होता है। वह योग यह मत सोचिये कि मिल-औनर को होगा, मजदूर को नहीं - ऐसी बात नहीं है; कि ब्राह्मण को होगा और क्षत्रिय को नहीं- ऐसी बात नहीं; कि हिन्दुस्तानी को होगा कि पाकिस्तानी को नहीं - ऐसी बात भी नहीं; इतना ही नहीं, राग-रहित भूमि में योग ईश्वरवादी को मिलेगा, अनीश्वरवादी को नहीं मिलेगा—ऐसी बात नहीं; कि अध्यात्मवादी को मिलेगा, अनअध्यात्मवादी को नहीं - ऐसी बात नहीं है। आप चाहे जो कुछ मानते हों, चाहे नहीं—आप राग-रहित होजायेंगे। राग-रहित होते ही सबको योग मिल जायेगा। ऐसा योग कि जिसमें श्रम की गंध नहीं है। लेकिन एक बात ध्यान रखनी पड़ेगी कि जब योग की प्राप्ति होती है सबसे पहले, वहाँ शान्ति रस की अभिव्यक्ति होती है।

जब शान्ति रस का भोग नहीं करेंगे तो स्वाधीनता का रस मिलेगा। और जब स्वाधीनता में सन्तुष्ट नहीं होंगे तब प्रेम की अभिव्यक्ति होगी। इसलिये भाई ! प्रेमास्पद कैसे हैं ?—इस पर दृष्टि मत डालो। तुम जैसा जानते हो वैसे भी हैं, उससे विलक्षण भी हैं। लेकिन तुम्हें प्रेम की अभिव्यक्ति करनी है। प्रेम की अभिव्यक्ति में जीवन की पूर्णता है। जीवन का आरम्भ कहाँ से हुआ ? कर्त्तव्य परायणता से। मध्य कहाँ रहा ? —स्वाधीनता में, सामर्थ्य में। अन्त कहाँ हुआ ? —प्रेम की अभिव्यक्ति में। जब प्रेम की अभिव्यक्ति होजायेगी तब प्रेमास्पद कैसे हैं ? यह प्रश्न ही समाप्त हो जायेगा, हल होजायेगा। इसलिये भैया ! प्रेम की प्राप्ति में जीवन की पूर्णता है—ऐसा विश्वास है।

१८

जाने हुए असत् के संग के त्याग से सत्संग होता है।

सत्संग से साधन का निर्माण होता है।

साधनमय जीवन में शान्ति की अभिव्यक्ति होती है।

अतः सत्संग के द्वारा वर्तमान में सिद्धि मिलती है।

बिना सत्संग के साधन करने के प्रयास में बहुत समय निकल जाता है, सिद्धि नहीं मिलती है।

असत् के संग का त्याग एवं सत् का संग वर्तमान में असाधनों का नाश एवं साधन का निर्माण होता है।

मानव अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग करने में स्वाधीन है।

विवेक-विरोधी कर्म के त्याग से सुन्दर समाज का निर्माण,

विवेक-विरोधी सम्बन्ध के त्याग से निर्विकारता, और

विवेक-विरोधी विश्वास के त्याग से प्रभु-विश्वास वर्तमान में होता है।

अतः मानव जीवन में सिद्धि वर्तमान में मिलती है।

१८

(अ)

यह नियम है कि जिस कार्य में अस्वाभाविकता नहीं रहती वह कार्य रुचिकर हो जाता है। जो कार्य रुचिकर हो जाता है उसमें मन लग जाता है। जिसमें मन लग जाता है उसमें रस की अभिव्यक्ति होने लगती है, यह हम सभी का दैनिक अनुभव है।

अब विचार यह करना है कि जब साधन-निर्माण अत्यन्त सुगम है और हमारे-आपके वर्तमान जीवन की वस्तु भी है, तो फिर हम साधन-निर्माण क्यों नहीं करते ? इसका एकमात्र कारण यह है कि असाधन-जनित जो सुख-लोलुपता है वह हमें साधन-निर्माण करने में पराधीन बना देती है। यद्यपि हम सब साधन-निर्माण में स्वाधीन हैं। पराधीनता है रुचिकर परिस्थिति की प्राप्ति में। वस्तु की प्राप्ति में, व्यक्ति विशेष की प्राप्ति में पराधीनता है। साधन-निर्माण में पराधीनता नहीं है। हमारे जीवन में जो यह अप्राप्त वस्तु की रुचि रहती है, अप्राप्त परिस्थिति की जो रुचि रहती है उसके मूल में एक ही भूल रहती है। वह भूल यह है कि हम अपने संकल्प को पकड़े रहते हैं। हम सोचते रहते हैं कि जगत् के द्वारा हमारे संकल्प की पूर्ति हो, प्रभु के द्वारा हमारे संकल्प की पूर्ति हो क्योंकि संकल्प की पूर्ति ही सुख का भोग है। सुख का भोग और कुछ नहीं। यद्यपि एक भी व्यक्ति समस्त विश्व में ऐसा नहीं मिलेगा जो ईमानदारी से कह सके कि मेरे सभी संकल्प पूरे हो गये। और कोई ऐसा

व्यक्ति भी नहीं मिलेगा जो कहे कि मेरा कोई संकल्प पूरा नहीं हुआ। इतना ही नहीं, प्रात.काल से लेकर सायंकाल तक हमारे आपके सभी के अनेक संकल्प पूरे होते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो पूरे नहीं होते। संकल्प-पूर्ति और अपूर्ति एक परिस्थिति है। यह एक विधान का अनादर है। विधान अपना प्रमाद है। आज लोग स्वाधीनता के बड़े गीत गाते हैं। स्वाधीनता का अर्थ क्या है? विधान की पराधीनता ईमानदारी से स्वीकार करलो तो स्वाधीन हो जाओगे। जो विधान की पराधीनता स्वीकार नहीं करता, वह कभी स्वाधीन नहीं हो सकता। तो विधान क्या है? कि सभी संकल्प किसी के पूरे नहीं होंगे और कुछ संकल्प सभी के पूरे होंगे। इससे यह सिद्ध हुआ कि संकल्प-पूर्ति जीवन नहीं है। तो फिर संकल्प पूर्ति है क्या? संकल्प पूर्ति उन संकल्पों की वास्तविकता का ज्ञान कराने वाली वस्तु है कि जिन संकल्पों को हम विचार से नहीं मिटा सकते। अब हम सबको यह बात मान ही लेनी चाहिये कि अपने जीवन में अपना कोई भी संकल्प नहीं रखना है। आप कहेंगे कि जब हमारा कोई संकल्प ही नहीं होगा, तो फिर जीवन क्या होगा? भाई! सच बात यह है कि तभी से जीवन आरम्भ होगा।

हम आपसे यह नहीं कहते कि आप अपना संकल्प हमको दे दें। इतना अवश्य कहते हैं कि जिसको चाहें उसको दें। अपने पास अपना संकल्प न रखें, कुटुम्बी जनों को दे दें, पड़ौसियों को दे दें। समाज को दे दें, विश्व को दे दें, प्रभु को दे दें। जो आपको अच्छा लगे, जो आपको प्यारा लगे उसको अपना संकल्प दे दें। आप कहेंगे कि इसका उपाय क्या? इसका बहुत सरल उपाय है और वह उपाय यह है कि आप

थोड़ी-थोड़ी देर के लिये निर्विकल्प रहने का प्रयास करें। जब आपको निर्विकल्पता के रस की अनुभूति होने लगेगी तब आपको संकल्प रखना भार हो जायगा। असह्य हो जायगा। जैसे आँख में मिट्टी का करकना असह्य हो जाता है, वैसे ही संकल्प को रखना असह्य हो जाता है। किनको ? जो निर्विकल्पता के रस को पा लेते हैं। कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि निर्विकल्पता-प्राप्ति में तो हम सब सर्वदा स्वाधीन हैं, पराधीन नहीं हैं। उसी निर्विकल्पता प्राप्ति के लिये लोग अपने कुछ संकल्पों का त्याग करके और किसी सकल्प को ग्रहण करके, एकान्तवास करते हैं; बड़े-बड़े कार्य करते हैं। लेकिन उसके मूल में क्या है ? किसी भाई से पूछो कि तुम जो चाहते हो वह चाह पूरी होने के बाद क्या तुम उसी स्थिति में नहीं आ जाते जिस स्थिति में चाह की उत्पत्ति से पूर्व थे ? सभी विचारकों को यह बात माननी पड़ेगी कि अवश्य प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन संकल्प-पूर्ति के अन्त में उसी स्थिति में आता है जिस स्थिति में संकल्प-उत्पत्ति के पूर्व थे। तो मिला क्या भाई ? मिला तो वही जो दाद को खुजलाने वाले को मिलता है– खुजलाने में रस और परिणाम में जखम। इसके अतिरिक्त किसी भी संकल्पपूर्ति के बदले में किसी भी भाई को कुछ नहीं मिल सकता क्योंकि यह वैज्ञानिक सत्य है, दार्शनिक सत्य है; यह काल्पनिक बात नहीं है। इसलिये आज हमें अपने सभी संकल्पों को अपने विश्वास-पात्र को समर्पित करना है। चाहे आप विश्व में विश्वास करें, कोई आपत्ति नहीं। चाहे आप प्रभु में विश्वास करें, कोई--आपत्ति नहीं। चाहे आप अपने में विश्वास करें, कोई आपत्ति नहीं। अपने सभी संकल्पों का त्याग कर दो। विश्व के लिये अपने सभी संकल्पों का त्याग कर दो। प्रभु के

के लिये अपने सभी संकल्पों का त्याग कर दो। उसके पश्चात् अपने आप आपके जीवन में एक विचित्र अनुभूति होगी। और वह यह होगी कि जिन संकल्पों को पूरा होना ही है, जिन संकल्पों की पूर्ति के बिना आपका अस्तित्व रह ही नहीं सकता, वे सभी संकल्प दूसरों के हो-होकर पूरे हो जायेंगे। यहाँ तक कि आपका भोजन करना, भोजन कराने वाले का संकल्प रहेगा। यहाँ तक कि आपका मिलना, मिलने वाले का संकल्प रहेगा। यहाँ तक कि आपकी प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरों के संकल्प से पूरी होगी। जब हमारे और आपके जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरों के संकल्प से पूरी होने लगती है, तब संकल्प-पूर्ति में पराधीनता का दर्शन नहीं होता।

जरा ध्यान दीजिये, और गम्भीरता से ध्यान दीजिये, कि क्या आज हम इस जीवन को भी प्राप्त नहीं कर सकते ? क्या आज का पति, पत्नी के संकल्प से घर में नहीं रह सकता ? क्या आज का भाई, भाई के संकल्प से घर में नहीं रह सकता ? क्या आज का प्रोफेसर विद्यार्थियों के संकल्प से प्रोफेसर नहीं रह सकता ? क्या आज का नागरिक समाज के संकल्प से नागरिक नहीं रह सकता ? अवश्य रह सकता है। परन्तु हमने आज इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया। हम सोचने लगे कि जब तक हमारे मन की बात पूरी नहीं होगी, जीवन कुछ रहेगा ही नहीं। तो भाई मेरे ! आज हमें और आपको अपने इस जाने हुए असत्य का त्याग करना है कि अपने पास अपना संकल्प रखते हुए, पराधीनता से रहित नहीं हो सकते, जड़ता से रहित नहीं हो सकते, अभाव से रहित नहीं हो सकते। यह निर्विवाद सत्य है। तो क्या हम और आप अपने इस जाने हुये असत् को सदा के लिये

बनाये रक्खेंगे ? नहीं ! नहीं !! प्रभु ने हमें और आपको मानव-जीवन दिया है। और मानव-जीवन के नाते हमको और आपको विवेक मिला है; जिस विवेक ने हमें यह बतलाया कि संकल्प-पूर्ति के समान और कोई दीनता नहीं है, संकल्प पूर्ति के समान और कोई अभाव नहीं है।

आप कहेंगे महाराज ! संकल्प तो शुद्ध भी होते हैं, आवश्यक भी होते हैं। बात ठीक है। जो संकल्प शुद्ध होते हैं, वे दूसरे के संकल्प से पूरे होते हैं। जो संकल्प आवश्यक होते हैं, वे अनायास पूरे होते हैं। उन संकल्पों के रखने, न रखने का जीवन में कोई प्रश्न ही नहीं आता। यही तो देखता है कि हमारे और आपके आवश्यक और शुद्ध संकल्प, अपने आप पूरे हो जायं और हम और आप निर्विकल्प बने रहें। यही तो एक जीवन है—जिस जीवन में राष्ट्रपति और चपरासी एक हो जाते हैं; जिस जीवन में महाजन और मजदूर एक हो जाते हैं, जिस जीवन में दुनियाँ का बड़े से बड़ा आदमी और छोटे से छोटा आदमी एक हो जाता है। इसी जीवन के लिये तो यह वर्तमान जीवन है। इसलिये भाई मेरे ! आज हमको और आपको बड़े ही धीरज के साथ, बड़ी ही गम्भीरता के साथ, बड़े ही विचार के साथ, अपने सभी संकल्प दे देना है। क्या आज हम अपना संकल्प भी नहीं दे सकते ? जरा सोचिये तो, तब दे ही क्या सकते हैं ? और तो अपने पास कुछ है ही नहीं। आप विचार करके देखें, जिस किसी वस्तु को आज हम अपना मानेंगे, वह वस्तु विश्व-भगवान् की है, समाज की है; वह व्यक्तिगत नहीं है। तो समाज की वस्तु का देना, क्या देना होगा ? हमारी वस्तु अगर कोई है, तो केवल यही मालूम होती है कि हम अपना भी कोई संकल्प रखते

हैं। इसलिये भाई ! आज हमें और आपको अपना कोई संकल्प नहीं रखना है।

जिस समय आस्तिकवादी अपना कोई संकल्प नहीं रखेगा, उसे स्वतः प्रभु की संकल्प-पूर्ति का अनुभव होगा। भौतिकवादी जब अपना संकल्प नहीं रखेगा तो उसे स्वतः समाज की संकल्प-पूर्ति का अनुभव होगा। अपने जीवन से, अपनी प्रत्येक चर्या से, उसे यह भास होगा कि मेरी चर्या तो समाज के संकल्प की प्रतिक्रिया है, प्रभु के संकल्प की प्रतिक्रिया है, अथवा यह स्वतः अपने आप हो रही है। इन तीन-दृष्टिकोणों में से किसी एक दृष्टिकोण का अनुभव प्रत्येक भाई-बहिन को हो सकता है। किन्तु कब ? जब हम सत् के संगी बनें तब। आज तो सत्संग के नाम पर व्याख्यान दिया जाता है। गुरू बन कर बात कही जाती है, नेता बनकर बात कही जाती है। आज सुधार के नाम पर शासक बनने की बात कही जाती है। पर भाई ! मानव सेवा संघ की नीति के अनुसार कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है जो अपना गुरू नहीं है, कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है जो अपना नेता नहीं है। कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है जो अपना शासक नहीं है। आज हम से अगर कोई असावधानी हुई तो यही हुई कि हमने अपना गुरू बनना छोड़ दिया, दूसरों का गुरू बनना स्वीकार कर लिया। हमने अपना नेता बनना छोड़ दिया, दूसरों का नेता बनना स्वीकार कर लिया। हमने अपने पर अपना शासन नहीं किया, दूसरों पर शासन करने लगे। इस भूल का परिणाम यह हुआ है कि हमारे जीवन में सदैव दूसरों के कर्त्तव्य का ध्यान रहता है और अपने अधिकार का ध्यान रहता है। मेरे भाई ! जरा सोचो तो सही, कि क्या वह भी हमारा अधिकार है जो दूसरों

का कर्त्तव्य न हो ? और क्या वह भी हमारा कर्त्तव्य है जो दूसरे का अधिकार न हो ? जब हमारा कर्त्तव्य दूसरे का अधिकार है, तो दूसरा हमसे अलग हो ही कैसे सकता है ? हमारे उसके बीच में भेद रह ही कैसे सकता है ? कदापि नहीं रह सकता। जब दूसरे का कर्त्तव्य ही हमारा अधिकार है, तो अधिकार पाने में हम स्वाधीन हो ही कैसे सकते हैं ? कभी नहीं हो सकते। किन्तु आज हम अपने अधिकार सुरक्षित रखने के लिये क्या नहीं करते हैं ? वह भी करते हैं जो किसी दृष्टि से करना चाहिये। वास्तव में तो कुछ नहीं करना चाहिये अपनी अधिकार-पूर्ति के लिये; किन्तु परम्परागत प्रथा के अनुसार जो कुछ करना चाहिये वह भी हम करते हैं; और वह भी करते हैं जो नहीं करना चाहिये। पर भाई ! अधिकार-लालसा की आपके द्वारा पूर्ति नहीं हो सकती। आज तक बड़े से बड़े आदमी के जीवन को सामने रख कर सोचिये। सभी संकल्प जब किसी के पूरे नहीं हुए, तो हमारा अधिकार भी तो संकल्प ही है; उसको पूरा करना क्या हमारे हाथ में है ?

हम आपसे पूछते हैं कि अगर सूर्य देवता यह कहें कि हमारा अधिकार था हमने तुम्हें आँखें दीं, लेकिन तुमने दी हुई आँखों का गलत उपयोग क्यों किया ? अगर पञ्चभूत यह कहें कि देखो, तुमको शरीर दिया था, लेकिन हमारे दिये हुए शरीर का तुमने गलत उपयोग क्यों किया ? क्या आपके पास कुछ उत्तर है ? जिसने हमें सब कुछ दिया उसने आज तक हमारे ऊपर कोई अधिकार-लालसा का विधान नहीं लगा दिया। हमें बोलने की शक्ति दी, सुनने का ज्ञान दिया। सच बोलना चाहिये—यह ज्ञान भी दिया और हमें मीठा बोलना चाहिये—यह ज्ञान भी

दिया। उसी दाता के सामने उसी की दी हुई वाणी से झूंठ बोला, कटु बोला ! लेकिन अगर वह अपना अधिकार मानता तो जिस समय झूंठ बोलने का संकल्प होता, उसी समय वाणी रुक जाती। लोग कहेंगे—ऐसा विधान होता तब तो बड़ा सुन्दर होता; कोई झूंठ बोल ही नहीं पाता। लेकिन जरा सोचो तो सही, ऐसा विधान बना देने के बाद क्या तुम्हें बोलने का रस मिलता ? क्या तुम बोलने की शक्ति का उपयोग स्वाधीनता पूर्वक कर सकते ? आपको मानना पड़ेगा कि नहीं कर सकते। यदि तुम कुछ भी नहीं कर सकते तो क्या तुम्हारा अपना कोई अस्तित्व होता ? और जब तुम्हारा अपना अस्तित्व ही नहीं होता तो तुम्हारे और दाता के बीच में जो प्रीति होनी चाहिये, तुम्हारे और दूसरों के बीच में जो स्नेह होना चाहिये, उसका रस क्या आपको मिलता ? क्या प्रेम के आदान-प्रदान का रस आपको मिलता ? कदापि नहीं मिलता। इसलिये भाई मेरे ! हमें अपनी इस दैनिक अनुभूति से यही सीखना है यही समझना है कि जिसने सब कुछ दिया, उसने अपने को छिपा लिया और एक विधान दे दिया। वह भी विधान यह नहीं कि आप यह कह सकें कि हम नहीं जानते हैं कि झूंठ नहीं बोलना चाहिये। हम जानते हैं कि हमें किसी को धोखा नहीं देना चाहिये। हम जानते हैं कि हमें किसी का अहित नहीं करना चाहिये। यह ज्ञान उसका नहीं मालूम होता कि किसी ने हमारे ऊपर लाकर एक विधान लाद दिया है। हम सब को यही मालूम होता है कि यह हमारा अपना ही ज्ञान है; किन्तु फिर भी हम अपने उस ज्ञान का आदर नहीं कर पाते। जो अपने ज्ञान का आदर नहीं कर पाता मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि वह असत् का त्याग कैसे कर सकता है ? वह सत् का

संगी कैसे हो सकता है ? जो सत् का संगी नहीं हो सकता उसके जीवन में साधन की अभिव्यक्ति कैसे हो सकती है ? कदापि नहीं हो सकती। इसलिये भाई ! सत्संग मानव जीवन का आरम्भ है और साधन-परायणता मानव जीवन का अन्त है। तो सत्संग के द्वारा हम सब बड़ी सुगमता के साथ साधन का निर्माण कर सकते हैं। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

वह सत्संग कैसे प्राप्त होता है ? इस पर थोड़ा आज विचार करलें। मेरा अपना ऐसा ख्याल भी है, विश्वास भी है, और अगर यह निरभिमानता-पूर्वक कहूँ कि अनुभूति भी है, तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है कि सत्संग के लिये किसी प्रकार के श्रम की अपेक्षा नहीं है। जरा विचार तो करो, क्या वह भी सत् है जो सर्वत्र नहीं है ? क्या वह भी सत् हो सकता है जो सर्वदा न हो ? आप विचार करें—जो सर्वत्र है, सर्वदा है, वह वहाँ भी है जहाँ हम हैं। तो जो हमसे दूर नहीं है, क्या उसकी प्राप्ति श्रम-साध्य है ? कदापि नहीं। वह साध्य है—केवल श्रम-रहित होने से। जीवन में श्रम का उद्गम-स्थान है—केवल असत् की कामना, असत् में विश्वास और असत् से सम्बन्ध, असत् का दुरुपयोग। इन सब कारणों से श्रम की उत्पत्ति होती है। यदि हमें और आपको वास्तव में सत्संग करना है, तो उसके लिये सबसे पहला प्रयास क्या होगा ? कि जब आपकी सुषुप्ति जागृति में बदले, तो उसी समय बिस्तर पर उसी दशा में, जैसे आपको सुख मिले, थोड़ी देर के लिये जाग्रत अवस्था में ही सुषुप्तिवत् विश्राम कीजिये। उसका परिणाम यह होगा कि अगर आपको दो-तीन मिनट की आदत विश्राम करने की आ जायेगी, तो आपका ध्यान स्वतः हो जायेगा, अपने आप हो जायेगा; दस-

बारह सैकिण्ड में धारणा हो जायेगी, आधे घण्टे में समाधि हो जायेगी। यह निर्विवाद सत्य है। इसलिये भाई, पहला उपाय है सत्संग करने का कि हम और आप श्रम-रहित हो जायं। परन्तु जब हम श्रम-रहित होने की कोशिश करते हैं अथवा कुछ काल के लिये श्रम-रहित हो जाते हैं—अप्रयत्न द्वारा, तब क्या होता है कि दो-चार सैकिण्ड के बाद ही संकल्प-विकल्पों का एक प्रवाह चलने लगता है। यह बात भी उन सभी साधकों को मान्य होगी जिन्होंने साधन किया है। जब वह संकल्प-विकल्पों का प्रवाह चलने लगे, तब आप उनसे असहयोग करें। असहयोग का अर्थ यह नहीं होता कि उनसे द्वेष करें। असहयोग का पहला अर्थ होता है कि उनसे तादात्म्य न रखें। दूसरा अर्थ होता है कि उनका अपने पर प्रभाव न हो। कल्पना करो कि अगर अशुद्ध संकल्प उठ रहे हों, तो भयभीत न हो जायं और शुद्ध संकल्प उठ रहे हों, तो उनका सुख न भोगने लग जायं। जब हम बुरे संकल्पों से भयभीत नहीं होंगे और भले संकल्पों का सुख नहीं भोगेंगे, तब वे संकल्प अपने आप मिटने लगेंगे।

अब आप कहेंगे कि वे संकल्प उठते ही क्यों हैं? ऐसा प्रश्न हो सकता है। इस प्रश्न पर विचार करते हुए हमें यह समझना चाहिए कि वे संकल्प उठ नहीं रहे हैं। हमारे जीवन में जो संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति का सुख-दुःख होता रहा है, जिसको हम भोगते रहे हैं, यह उसी सुख-दुःख के भोग का प्रभाव है, वह संकल्प नहीं है। वह प्रभाव प्रकट होता है जब आप श्रम-रहित होते हैं,अर्थात् जब आप सत् के संगी होते हैं, तब वह प्रभाव प्रकट होता है, मिटने के लिये। हमसे भूल क्या होती है कि हम उस प्रभाव को वास्तविक मान लेते हैं। हम कहने लगते हैं कि हाय-हाय रे! हमारा मन तो बड़ा खराब है। पर भाई, पहले यह तो

सिद्ध करलो कि तुम्हारा मन है। जब यही सिद्ध नहीं हुआ तो पराये मन पर खराबी का एक लांछन लगा देना क्या न्याय-संगत बात है? बिल्कुल अन्याय है। इसलिये भाई, मन न कभी खराब होता है और न मन कभी अच्छा होता है। फाउण्टेन पेन न खराब है, न अच्छा है। कोई भाषा न खराब है, न अच्छी है। अच्छाई और खराबी जो कुछ होती है, वह लेखक में होती है, फाउण्टेन पेन में नहीं होती, भाषा में नहीं होती। तो कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि लेखक की बुराई को आप भले ही फाउण्टेन पेन पर लगा दें, लेखक की भलाई को आप भले ही किसी भाषा में लगादें; वास्तव में तो भलाई और बुराई कर्त्ता में होती है, करण में नहीं होती। जब करण में नहीं होती, तब मन कर्त्ता है ही नहीं, वह तो करण है। जब मन कर्त्ता है ही नहीं तब हम और आप किस न्याय से, किस ईमानदारी से अपने मन को भला और बुरा बतलाते हैं? हम भले होते हैं, मन भला होता है। हम बुरे होते हैं, मन बुरा होता है। हम भले कब होते हैं? जब अपना कोई संकल्प नहीं रखते। हम बुरे कब होते हैं? जब अपना कोई संकल्प रखते हैं। जब हम अपना कोई संकल्प नहीं रखेंगे, तो सच मानिये, मन अपने आप अमन हो जायेगा और जब मन अमन हो जायेगा तब जीवन अपने आप चमन हो जायेगा। यह निर्विवाद सत्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह जो संकल्प-विकल्पों का प्रभाव आपको दिखाई देता है, वह भुक्त-अभुक्त इच्छाओं का प्रभाव है और कुछ नहीं। और जब आप उससे असहयोग कर लेते हैं, जब आप उससे तदात्म्यता नहीं रखते हैं, तो वह प्रभाव समय पाकर अपने आप मिट जाता है।

इस पर कुछ साधकों को ऐसा सन्देह होता है कि भाई, हमें

तो इतने दिन हो गये, लेकिन क्या वह प्रभाव अभी तक नहीं मिटा ! अरे, जरा विचार तो करो कि इतने दिन हो गये मिटा तो नहीं, लेकिन यह भी तो सोचिये कि दिन में आप कितनी बार नया संकल्प पूर्ति का सुख भोग लेते हैं, कितनी बार संकल्प अपूर्ति से क्षोभित होते हैं ! अजी, वह प्रभाव तो मिट जाता, लेकिन आप तो नये-नये प्रभाव उस मन पर जमा करते रहते हैं। इसलिये हमें संकल्प-पूर्ति का सुख नहीं भोगना है, संकल्प-पूर्ति में जिसके द्वारा संकल्प पूरा हुआ है, उसे आदर देना है, उसे प्यार देना है और उसे आदर और प्यार देकर, उसे धन्यवाद देकर, अपने को उस संकल्प पूर्ति के सुख से मुक्त रखना है। मुक्त रखने पर भी संकल्प पूरे होंगे और संकल्प पूर्ति का भोग करने पर भी संकल्प पूरे नहीं होंगे। तो कहने का तात्पर्य यह कि आपकी वस्तु-स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता इस बात से कि आपका कोई अपना संकल्प है अथवा नहीं है। अगर आपका कोई संकल्प नहीं है, तो अन्तर पड़ेगा इस बात में कि आप सभी संकल्पों से अतीत जो वास्तविक जीवन है, उसकी ओर आपकी गति होगी, उसमें आपकी मति होगी, उसमें आपकी प्रीति होगी, उसका आपको बोध होगा। यह तो अन्तर पड़ेगा, लेकिन व्यावहारिक जीवन में अपना संकल्प न रखने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। यह कहना कि यदि हम अपना संकल्प नहीं रक्खेंगे, तो कालिज में ठीक से नहीं पढ़ा सकेंगे; हम अपना संकल्प नहीं रक्खेंगे तो व्यापार ठीक नहीं कर सकेंगे, कुटुम्बीजनों को सही रास्ते पर चला न सकेंगे; यह बात कुछ नहीं होती। ईमानदारी से देखो तो सही, कोई पति क्या आज अपनी पत्नी को भी समझा सका ? कोई बाप अपने बेटे को भी समझा सका ? कोई भाई आज अपने भाई को भी अपना बना सका ? जब तक कि वह स्वयं नहीं बनता। कोई

ऐसा नहीं कर सका, शेखी भले मारो। मुझे तो ऐसा कहने में भी आपत्ति नहीं है कि दुनियाँ का कोई भी गुरू ऐसा नहीं हुआ जो अपने जैसा अपने शिष्य को बना सका हो। हाँ, ऐसा तो देखने में मिलेगा कि कोई-कोई शिष्य गुरू से ऊँचा हो जाय, कोई-कोई विद्यार्थी अपने प्रोफेसर से ऊँचा निकल जाय, लेकिन यह दावा कोई गुरू नहीं कर सकता कि वह शिष्य को अपना जैसा बना देगा। नहीं तो आज बौद्धों में करोड़ों बुद्ध दिखाई देते, ईसाइयों में करोड़ों ईसा दिखाई देते, मुसलमानों में करोड़ों मुहम्मद दिखाई देते, हिन्दुओं में करोड़ों शंकराचार्य दिखाई देते, चैतन्य महाप्रभु दिखाई देते, कबीर पंथियों में कबीर दिखाई देते, मीरा के अनुसरण करने वालों में मीरा दिखाई देतीं। लेकिन सुनते तो सब हैं, समझते तो सब हैं। सब पूजा भी करते हैं। लाखों आदमी उनके पीछे भी चलते हैं और उनके बाह्य जीवन की नकल भी करते हैं। जो भाषा बुद्ध बोलते थे, वह हम भी बोलते हैं। जो मन्त्र हमारे गुरु-परम्परा से चलता है, वह हम भी जपते हैं। लेकिन जैसा गुरू का जीवन था, क्या हमारा वैसा जीवन है? जब यह बात आप सिद्ध नहीं कर सकते अपने जीवन से, तब यह दावा कि "हम दूसरे का सुधार कर लेंगे, हम दूसरे को सही रास्ते पर ले जायेंगे" —ऐसी ही बात है जैसी कि अपनी कमजोरी को दूसरे पर आरोपित करके देखना।

हाँ, यह बात हम कर सकते हैं, और वह यह कि हम अपने जीवन को इतना सुन्दर बना सकते हैं, कि सम्भव है कि उस सुन्दरता को देख कर, समाज के मन में एक रुचि पैदा हो, सुन्दर होने की, एक लालसा जागृत हो भला बनने की। इसके अतिरिक्त कोई भी भाई, कोई भी बहन, कोई भी गुरू, कोई भी

नेता कुछ कर सकता है, ऐसा मेरा व्यक्तिगत विश्वास नहीं है। लेकिन एक बात पर ध्यान दीजियेगा कि व्यक्तिगत विश्वास अनेकों का अविश्वास हो सकता है। व्यक्तिगत सत्य अनेकों के लिये असत्य हो सकता है। मेरा आग्रह नहीं है कि जो बात मैंने निवेदन की है वह आप मान ही लें। लेकिन प्रार्थना यह है कि उसको न मान कर, इस बात को सिद्ध कर दें, जरा जीवन से, कि हमने अपने साथी को अपना जैसा चाहा वैसा बना लिया। लेकिन अगर जीवन से आप सिद्ध नहीं कर सकते, तब तो आपको भी किसी न किसी रूप में यह बात माननी होगी। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारे मन में दूसरों की हित-कामना न रहे, दूसरों के विकास की भावना न रहे। इसका अर्थ केवल यही है कि अपने सुधार के द्वारा ही दूसरे के सुधार की आशा करें। अपने बिना सुधार किये, हम दूसरे के सुधार की आशा करेंगे तो सम्भव है कि हम सफल न हों, और सफल न होने से हमें आघात लगे जीवन में, हम कहें कि हे प्रभू ! अब तू इस संसार में हमें मत रख, क्योंकि जो हम चाहते हैं वह हुआ नहीं, हो नहीं रहा है।

१८

(ब)

जो नहीं होरहा है, उसके दुःख से हमें दुःखी होकर, जो होना चाहिये, उसकी भावना कर सकते हैं, उसकी लालसा कर सकते हैं। लेकिन "हम करा सकते हैं"—यह बात मेरी अपनी समझ में अभी तक नहीं आई है। जब आयेगी, तब अवश्य मान लूंगा। कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि भाई! आज हम और आप अपना एक संकल्प रखते हैं हर बात में, कि खाना खायेंगे तो अपने मन का, बात कहेंगे तो अपने मन की, भाई! जरा सोचो तो सही कि जो विचारी तुम्हें खाना खिलायेगी, उसके मन की ओर भी तो देखो, कि वह तुम्हें खिलाना चाहती है कि नहीं, कैसा खिलाना चाहती है। बोले, उसके मन की ओर क्यों देखेंगे? हम बाहर से कमा कर जो लाते हैं। कमा कर लाते हो तो नोट चबा लिया करो। चाय पीने की क्या जरूरत है? नोट चबाओ। जरा सोचो तो सही, कि जिन साधनों से तुम कमाते हो, वे साधन क्या तुम्हारे हैं? जब तुम पैदा हुये थे, तब क्या कमाने के लायक थे? तब कमाने के लायक नहीं थे। तुम्हें किसी से खुराक मिली, किसी से नर्सिंग मिली, किसी से शिक्षा मिली, किसी से पोषण मिला। तब, जब कुछ करने लायक हुये, तब आप यह सोचते हैं कि हम अपनी कमाई

अपनी पत्नी को खिलाते हैं, अपने पुत्र को खिलाते हैं ! हम अपनी कमाई से बड़े-बड़े सामाजिक काम करते हैं !

जरा सोचो ! इसमें ईमानदारी कितनी है ? अगर सचमुच आप ईमानदार हैं, तो आप यही कह सकते हैं कि हमने पहले लिया था, अब उस लिये हुये में से कुछ भाग देते हैं। आप जानते हैं ? किसी सेठ से जाकर पूछो, जो कोई कुछ लेता है तो कुल वापिस करने के बाद भी उस पर ब्याज रह जाता है। और यदि जितना लेता है, उसमें से कुछ कम दे और देने का अभिमान करे, तो उसे सब क्या कहेंगे ? सब कहेंगे कि मिला हुआ सब देने के बाद भी ब्याज रहता है। फिर क्या इस अभिमान के लिए कोई स्थान रह जाता है ? कि हम अपने खानदान का पोषण करते हैं, हम समाज के बड़े-बड़े काम करते हैं। यह रह जाता है ? नहीं रह जाता। ईमानदारी तो यह है कि हम जो कुछ करते हैं, वह कम करते हैं। उतना नहीं करते जितना करना चाहिये।

इसलिये भाई, आज हमें और आपको अपने सभी संकल्प छोड़ कर, इस बात पर विचार करना है कि हमारे साथियों का जो संकल्प है या तो उसे पूरा करें, और अगर पूरा नहीं कर सकेंगे तो क्षमा मांगेंगे—कि हम असमर्थ हैं आपके संकल्पों को पूरा करने में। किस संकल्प के लिए क्षमा मांगेंगे ? कि जिनमें दो बातें हों – एक तो यदि वे संकल्प हमारे अपने ज्ञान का विरोध करते हैं, दूसरे यदि वे हमारे सामर्थ्य के बाहर हों। सामर्थ्य के बाहर का अर्थ यह मत रखिये कि हजारों रुपये एकाउण्ट में हैं और सौ रुपये हमारे सामर्थ्य के बाहर की बात है। यह तो बेईमानी

होजायेगी। सचमुच जो सामर्थ्य के बाहर हो, और सचमुच जिसमें अपने विवेक का विरोध हो। रुचि के विरोध को कहीं विवेक का विरोध मत मान लीजियेगा। कभी-कभी हम लोग अपनी रुचि के विरोध को अपने विवेक का विरोध मान लेते हैं। भाई, रुचि के विरोध में और बिवेक के विरोध में बड़ा अन्तर होता है। विवेक का विरोध तो उस कार्य में होता है जो अहितकर है, जो पराधीनता की ओर ले जाने वाला है, जो जड़ता की ओर लेजाने वाला है, जो अभाव में आबद्ध करने वाला है, वह संकल्प विवेक-विरोधी संकल्प होता है अथवा जो दूसरों के लिये अहितकर है। वह संकल्प कभी विवेक-विरोधी नहीं होता जो अपने लिए और दूसरों के लिए हितकर हो, अथवा स्वाधीनता की ओर लेजाने वाला हो, चिन्मयता की ओर लेजाने वाला हो।

तो विवेक-विरोधी संकल्प के लिये हम क्षमा मांग सकते हैं। सामर्थ्य के बाहर जो संकल्प है उसके लिए क्षमा मांग सकते हैं। ईमानदारी की बात यह है कि जो संकल्प बिवेक-विरोधी न हो, सामर्थ्य के बाहर न हो, असली मानव उसे समझना चाहिये कि उसके लिए इन्कार करने की बात ही कभी उसके मन में न आये। किस संकल्प को पूरा करने के लिये ? कि जिसमें उसके विवेक का समर्थन है और सामर्थ्य के अनुसार भी है। इसलिए भाई हमारा और आपका जीवन ऐसा होना चाहिये कि हम दूसरों के उन संकल्पों को पूरा करने से अपने को न बचायें, जो विवेक-विरोधी नहीं हैं और सामर्थ्य के अनुसार हैं। आप कहेंगे कि फिर अपना संकल्प तो बना ही रहेगा। नहीं ! नहीं !! इस प्रकार के सकल्प, दूसरों

की ओर से आपके सामने अपने आप आयेंगे। वे आपके संकल्प नहीं होंगे। हां, अगर आप प्रभु की सत्ता स्वीकार करते हैं तो प्रभु के संकल्प होंगे, अगर आप जगत की सत्ता स्वीकार करते हैं, तो वे जगत के संकल्प होंगे।

आप सोचिये, क्या कोई हमसे वह आशा करता है जो हम नहीं कर सकते? कोई हमसे वह आशा नहीं करता जो हम नहीं कर सकते। तो फिर, जो कोई हमसे आशा करेगा, वह उसी की आशा करेगा जिसे हम कर सकेंगे। यदि कोई बेसमझी से ऐसी आशा कर बैठता है जो हम नहीं कर सकते, तो उसके लिए क्षमा मांगने में अपना क्या बिगड़ता है? क्या उसमें कोई अनादर की बात हैं? क्या उसमें कोई भय की बात है? न भय की बात है, और न अनादर की बात है। हम प्रीति पूर्वक यह कह सकते हैं—कि हम क्षमा चाहते हैं, हम ऐसा नहीं कर पायेंगे, हमारे जीवन में इसके लिए कोई स्थान है नहीं, कोई योग्यता है नहीं। इस प्रकार से अगर हम उन संकल्पों के लिए क्षमा मांगें जिनको पूरा नहीं कर सकते। और उन संकल्पों को उन्हीं के संकल्प समझ कर—अगर भक्त हैं तो भगवान् का संकल्प जानकर, अगर तत्वज्ञ हैं तो उसको माया-मात्र जानकर, अगर भौतिक दर्शन पर श्रद्धा रखते हैं तो विश्व के संकल्प को मानकर, उन संकल्पों को पूरा होने दो। लेकिन, एक बात पर बड़ा ध्यान रखना है, वह यह बात है कि जब संकल्प चाहे अपने संकल्प से पूरा हो, चाहे दूसरों के संकल्प से पूरा हो, संकल्प पूरे होने का जो सुख है उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता।

आप अपने मन से खाना खाइये, अथवा किसी व्यक्ति के मन से खाना खाइये, खाना खाने में जो सुख होगा उसमें कोई अन्तर नहीं। केवल जब हम अपने मन से भोजन करेंगे तब उस भोजन करने का जो सुख है वह हमारे चित्त पर अंकित होगा और हमारे जीवन में उसकी दासता आजायेगी। और जब हम अपने संकल्प से भोजन नहीं करेंगे तो भोजन कराने वाले के प्रति प्यार होगा, आदर होगा और उस भोजन करने का जो सुख है उसका राग अंकित नहीं होगा। भाई, संकल्प तो पूरे होते ही रहते हैं। लेकिन जिन संकल्पों की पूर्ति का राग अंकित होजाता है, वही रोग को जन्म देते हैं, वही भोग को जन्म देते हैं, वही अभाव को जन्म देते हैं, वही जड़ता में आबद्ध करते हैं। जिन संकल्पों की पूर्ति का राग अंकित नहीं होता, वे संकल्प निर्विकल्पता में विलीन होजायेंगे। अतः सभी संकल्प जब निर्विकल्पता में विलीन होजायेंगे, तब प्रत्येक कार्य के अन्त में शान्ति का सम्पादन होगा, स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होगी, प्रेम की प्राप्ति होगी। यह निर्विवाद सत्य है। और यही वास्तव में जीवन है।

यदि जीवन में शान्ति का सम्पादन नहीं हुआ, अगर स्वाधीनता की अभिव्यक्ति नहीं हुई, अगर प्रेम की प्राप्ति नही हुई, तो मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या सुख-दुःख का भोगना ही जीवन है ? यदि है, तो सुख-दुःख तो भैया, सच पूछो ईमानदारी से, तो मानव की अपेक्षा पशुओं को अधिक सुख मिलता है। मैं तो कहता हूं कि कीर्ति भी कभी-कभी पशुओं की अधिक होजाती है। जैसे कि जिस कुत्ते को अन्तरिक्ष में उड़ाया गया था, उसे जितने लोगों ने जाना उससे अधिक यहाँ बैठे हुए

लोगों में से कितने को लोगों ने जाना ? उस कुत्ते को मैं समझता हूं कि आज के संसार में बहुत बड़े भाग ने जाना कि कुत्ता उड़ा था, इतना ऊंचा उड़ा था। वैसे भी यदि आप जीवन में देखें, तो ऐसी बातें आपको देखने को मिलेंगी कि मानव के अतिरिक्त अन्य को भी सुख भोगने का अवसर मिलता है, दुःख भोगने का अवसर मिलता है। लेकिन आये हुये सुख-दुःख का उपयोग मानव को ही मिलता है। यही न ! मानव जीवन की विशेषता है।

सुख जीवन में आयेगा। सुख माने संकल्प पूरे होंगे, यही तो सुख है। लेकिन उस सुख का भोग करना अथवा उसका उपयोग करना—उपयोग कैसे होगा ? और भोग कैसे होता है ? भोग यदि उस संकल्प का करेंगे तब नवीन संकल्प का जन्म होजायेगा। संकल्प पूर्ति के सुख का भोग नवीन संकल्प को जन्म देता है। जब हम संकल्प-पूर्ति का उपयोग करेंगे, तब हमें इस बात का बोध हो जायेगा कि संकल्प-अपूर्ति-काल में जो वेदना थी, संकल्प-पूर्ति-काल में जो सुख है, क्या उस संकल्प-पूर्ति-काल के सुख में पराधीनता नहीं है ? अगर आपको पराधीनता का दर्शन होगया तो आपने संकल्प पूर्ति का उपयोग कर लिया। जब पराधीनता का दर्शन कर लेंगे, तब संकल्प पूर्ति का सुख नहीं रह जायेगा। जब वह सुख नहीं रह जायेगा, तो संकल्प-पूर्ति की वास्तविकता का ज्ञान करा कर, निर्विकल्पता आजायेगी। संकल्प-पूर्ति उतनी बुरी चीज नहीं। संकल्प-अपूर्ति कोई बुरी चीज नहीं है। संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग हमें पराधीन बनाता है। संकल्प-अपूर्ति के दुःख का भय हमें चैन से नहीं रहने देता।

तो पराधीनता का रहना और बेचैनी का रहना, क्या कोई जीवन है? यह जीवन नहीं है। इसलिए भाई! संकल्प-अपूर्ति के दुःख से भयभीत नहीं होना है, और संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग नहीं करना है।

तब अपने आप, बिना ही प्रयत्न के, स्वभाव से सभी को, किसी एक को नहीं, कि यह बात ईश्वरवादी के लिए हो, कि यह बात अध्यात्मवादी के लिये हो, कि यह बात भौतिकवादी के लिये हो, कि यह बात किसी वर्ण विशेष के लिए हो, कि यह बात किसी वर्ग विशेष के लिये हो, ऐसी बात नहीं। प्रत्येक मानव-मात्र के लिए, भाई हो, बहन हो, किसी वर्ग और देश विशेष का हो, किसी मत और विचारधारा का हो, सभी के लिए संकल्प-निवृत्ति की स्थिति आयेगी। किन्तु संकल्प-निवृत्ति का जो आरम्भ काल है, वह भले ही सूना-सूना दिखाई दे, परन्तु थोड़े काल के बाद वह सकल्प-निवृत्ति शान्ति प्रदान करेगी। यदि हम उस शान्ति में रमण न करें, तब सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होगी, क्योंकि वह वास्तव में सामर्थ्य की प्रतीक है। जहां शान्ति का सम्पादन होता है वहाँ सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। सामर्थ्य स्वाधीनता की जननी है। जहां सामर्थ्य होती है वहां स्वाधीनता होती है।

स्वाधीनता का अर्थ क्या है? स्वाधीनता का व्यावहारिक दृष्टि से यह अर्थ है कि भाई, स्वाधीन वही है जो नहीं करना चाहिये उसकी उत्पत्ति न हो, और जो करना चाहिये वह स्वभाव से होजाय। यह सामर्थ्य-जनित स्वाधीनता है। उसका अर्थ यह नहीं है कि जो हम चाहें सो कर डालें। प्रत्युत जो

नहीं करना चाहिए वह न हो, और जो करना चाहिये वह स्वतः होने लगे, अर्थात् विवेक-विरोधी कर्म की उत्पत्ति न हो, और जिसमें विवेक का विरोध नहीं है, वह स्वतः होजाय। यह सामर्थ्य-जनित स्वाधीनता का बाह्य रूप है। लेकिन सामर्थ्य का आन्तरिक रूप है—स्वाधीनता की अभिव्यक्ति। जहां सामर्थ्य होगी वहां स्वाधीनता आजायेगी। स्वाधीनता का अर्थ क्या है ?—दिव्य चिन्मय जीवन की प्राप्ति। यदि हमने शान्ति में रमण नहीं किया तो निस्संदेह सामर्थ्य के द्वारा हम कर्त्तव्यनिष्ठ भी होजायेंगे और स्वाधीनता भी मिलेगी। यदि हमने स्वाधीनता में ही सन्तोष नहीं कर लिया तो वह प्रेम भी प्राप्त होगा कि जिसकी प्राप्ति के लिए जीव की तो कौन कहे ! ब्रह्म तरसता है।

प्रेम एक बड़ा रस है, आप कहेंगे,—क्यों ? देखिए, जीवन में रस की मांग है, और रस के अनेक स्तर हैं। जैसे भोग में भी रस है सबको मान्य है यह बात। भोग में भी रस है, लेकिन उस रस में बाधा यह है कि वह अनित्य है, और वह पराधीन बना देता है। इसलिये उस रस से ऊँचा रस है– योग का रस, वह शान्ति-रस है, और स्वाधीनता की ओर अग्रसर करता है। उसके बाद है—ज्ञान का रस। यहां ज्ञान से मतलब तत्वज्ञान से है। तत्वज्ञान का रस हमें सचमुच अमर बना देता है और स्वाधीनता में सन्तुष्ट कर देता है, किन्तु उस रस में अखंडता तो होती है, नित्यता भी होती है, चिन्मयता भी होती है, लेकिन उस रस की वृद्धि नहीं होती। तो फिर इससे आगे जो प्रेम का रस है, वह ज्ञान के रस के समान अखंड भी है, नित्य भी है, साथ-साथ अनन्त भी है। अनन्त-रस की उपलब्धि

प्रेम में ही है। इसी बात को मैंने अनेक बार कहा है कि जब हम कर्तव्यनिष्ठ होजाते हैं, तब हम सबको राग-रहित भूमि प्राप्त होती है। उस राग-रहित भूमि में अपने आप योग-रूपी वृक्ष लग जाता है, और उस योग-रूपी वृक्ष पर अपने आप तत्व-ज्ञानरूपी फल लग जाता है, जो प्रेम रस से परिपूर्ण है। यह हमारा और आपका मानव-जीवन है, और वह मानव-जीवन मानव-मात्र को प्राप्त होसकता है।

किन्तु इस जीवन में हमारा प्रवेश नहीं होता, इसका कारण हमारा प्रारब्ध नहीं है। उसका कारण परिस्थिति की प्रतिकूलता नहीं है, उसका कारण कोई और नहीं है। उसका कारण एकमात्र हमारी एक ही भूल है, और वह भूल यह है कि हम संकल्प-पूर्ति के सुख को महत्व देते हैं, और अपने जीवन में अपना भी संकल्प रखते हैं। यदि संकल्प-पूर्ति को हम महत्व न दें और अपने जीवन में अपना संकल्प न रखें, तो बड़ी सुगमता पूर्वक आवश्यक और शुद्ध संकल्प पूरे हो-होकर मिट जायेंगे और अनावश्यक और अशुद्ध संकल्प उत्पन्न नहीं होंगे, तब अपने आप स्वभाव से ही, निर्विकल्पता आयेगी। वह शान्ति प्रदान करेगी, और उस शान्ति में यदि हमने रमण नहीं किया, तो वह शान्ति हमें स्वाधीन बनायेगी। और यदि हम स्वाधीनता में सन्तुष्ट नहीं हुए, तो फिर, अपने आप प्रेम की अभिव्यक्ति होगी। प्रेम कोई अभ्यास नहीं है। प्रेम कोई अनुष्ठान नहीं हैं। प्रेम कोई दर्शन नहीं है। प्रेम है रस का प्रतीक, और रस है जीवन की मांग। इससे यह सिद्ध हुआ कि – प्रेम है जीवन।

अब आप विचार कीजिये कि वह प्रेम, जो कि जीवन है, उसकी प्राप्ति के लिए क्या कुछ करना पड़ता है ? करना नहीं

पड़ता, होने लगता है। करने का बोझा तो उसी क्षण नष्ट हो जाता है जिस क्षण हम संकल्प नहीं रखते। उस प्रेम की प्राप्ति का एक सुगम उपाय यह भी है कि हम जिसकी सत्ता स्वीकार करते हैं, उसमें हमारा अविचल-विश्वास हो; जिसमें हमारा विश्वास हो उससे हमारा नित्य सम्बन्ध हो, उसमें हमारी आत्मीयता हो। तो आत्मीयता के द्वारा की प्रेम भी अभिव्यक्ति होती है। और क्रमशः विकास के द्वारा की प्रेम भी अभिव्यक्ति होती है। प्रेम की मांग मानव-मात्र को है, प्राणी-मात्र को है, क्योंकि प्रेम के आदान-प्रदान में रस ही रस है। अगर आप किसी को प्रेम देते हैं, तब भी आपको रस मिलता है। और यदि कोई आपको प्रेम देता है, तब भी आपको रस मिलता है। क्या आज हम प्रेम के आदान-प्रदान में भी असमर्थ हैं? कदापि नहीं। किन्तु आज जिसमें हम समर्थ हैं, उसी से हम विमुख रहते हैं, और जिसमें हम असमर्थ हैं, उसी की दासता में हम आबद्ध रहते हैं। सभी संकल्पों की पूर्ति में सभी असमर्थ हैं। अतः संकल्प-पूर्ति का मानव जीवन में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। वह तो मार्ग की एक बात है। वह तो रास्ते की एक बात है, कि भाई, चलते-चलाते रास्ते में जरा संकल्प-पूर्ति के वैभव को देखलो, परन्तु उसमें सार कुछ नहीं है।

इसलिये भाई! यह मानव-जीवन सत्संग के लिए मिला है। और सत्संग तभी होसकेगा जब हम प्रति दिन अपने-अपने जाने हुए असत् के त्याग में तत्पर रहें। तो आज हमने किस असत् की बात की? केवल इस असत् की बात की, कि भाई! संकल्प-पूर्ति को जीवन मान लेना, संकल्प-पूर्ति को महत्व देना, संकल्प-पूर्ति के बिना चैन से न रहना, यह सब हमारा-आपका जाना हुआ असत् है। इस

असत् का त्याग कैसे करेंगे ? आज हम इस बात पर विचार करें कि भाई, संकल्प पूर्ति का जीवन में क्या स्थान है ? केवल इतना स्थान है कि वह किसी दूसरे का संकल्प बन, पूरा होकर मिट जाय। इसके आगे संकल्प-पूर्ति का कोई स्थान नहीं है।

भाई ! जीवन की प्राप्ति के लिए हमें सबसे पहले इस बात पर दृढ़ आस्था रखनी होगी दृढ़ विश्वास करना होगा और उसको अपने ज्ञान से जानना भी होगा कि संकल्प-पूर्ति से अतीत भी जीवन है। संकल्प-निवृत्ति से अतीत भी जीवन है। जब हम इन दोनों बातों को भली-भांति अनुभव कर लेंगे कि संकल्प-पूर्ति से अतीत भी जीवन है, संकल्प-निवृत्ति से अतीत भी जीवन है, तो न हमारे आपके जीवन में सुख की दासता रहेगी, न शान्ति का रमण रहेगा। आप कहेंगे कि भाई ! सुख की दासता तो पराधीन बनाती है, यह बात हम मान लेते हैं। लेकिन शान्ति का रमण क्या हानि पहुंचाता है ? भाई, शान्ति का रमण सीमित अहं को पुष्ट करता है और सीमित अहं भेद को जन्म देता है और भेद वासनाओं को उत्पन्न कर देता है। जब तक हम भेद स्वीकार नहीं कर लेते, तब तक वासनाओं की उत्पत्ति नहीं होती और वासनाओं की उत्पत्ति हमारा वस्तुओं से, अवस्थाओं से, परिस्थितियों से, व्यक्तियों से, देश से सम्बन्ध जोड़ देती है। परिणाम यह होता है कि संकल्प-निवृत्ति की गई थी वस्तु, अवस्था आदि से सम्बन्ध तोड़ने के लिए, किन्तु शान्ति के रमण ने कालान्तर में वही रोग उत्पन्न कर दिया। इतना ही नहीं, शान्ति के रमण ने ही अनेक पद्धतियों की ममता को जन्म दिया। 'यह हमारा मत, यह हमारा सिद्धान्त, यह हमारा मजहब, यह हमारी विचार-धारा' इत्यादि। विभिन्न विचार-धाराओं में प्रीति की एकता अहं के

ही रहने से नहीं रहती। इसलिए भाई! शान्ति को सम्पादित करना है, किन्तु उसमें रमण नहीं करना है। उसमें रमण न करने से हम सब एक अनुपम स्वाधीनता से अभिन्न होंगे, जिसमें पराधीनता की गंध भी नहीं है, अभाव की गंध भी नहीं है, भेद की गंध भी नहीं है।

वह स्वाधीनता भी हमारा जीवन है। उसका हम त्याग नहीं कर सकते। उससे हम अलग नहीं होसकते, किन्तु उसके आधार पर भी हम अगर सन्तुष्ट होते हैं, तो वही मृतक अहं वहाँ भी आजाता है और इसी आधार पर ही न! अनेक दार्शनिक भेद रहते हैं। इसलिये भाई! स्वाधीनता प्राप्त होगी। स्वाधीनता ही हमारे जीवन का लक्ष्य है, स्वाधीनता में ही सब कुछ है- यह भ्रम मिटाने के लिए ही यह कहा जाता है कि स्वाधीनता में सन्तुष्ट न रहो, जब स्वाधीनता में सन्तुष्ट नहीं रहते, तब अहं की गंध नहीं रहती। और जब अहं की गंध नहीं रहती तब प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। वही प्रेम उस अनन्त का स्वभाव है और कुछ नहीं। वही प्रेम प्रेमियों का अपना जीवन है। जो अनन्त का स्वभाव है, जो प्रेमियों का जीवन है, उस प्रेम की प्राप्ति में मानव जीवन की पूर्णता है। इसी बात को मैं अपनी बोलचाल की भाषा में कहूं, तो ऐसा कहूंगा कि भाई! प्रत्येक भाई को कामनाओं का नाश करना है, अर्थात् अपना कोई संकल्प नहीं रखना है। प्रत्येक भाई को जिज्ञासा की पूर्ति करनी है, अर्थात् निःसन्देह होना है और प्रत्येक भाई-बहन को प्रेम प्राप्त करना है। इस दृष्टि से साधन का आरम्भ कहां से हुआ? वह हुआ जाने हुए असत् के त्याग से। जब हमने इस जाने हुए असत् का त्याग किया, कि भाई! आज से, अभी से, हम अपना कोई संकल्प नहीं रक्खेंगे, तो

एक भय पैदा होगा पहले कि यदि हम अपना संकल्प नहीं रखेंगे तो श्रीमती जी समय पर भोजन नहीं देंगीं और जब वे भोजन देंगीं नहीं तो समय पर कालेज पहुंचेंगे नहीं और जब कालेज ठीक समय पर पहुँचेंगे नहीं तो नौकरी नहीं रहेगी। और जब नौकरी नहीं रहेगी तो पैसे नहीं मिलेंगे और समाज में स्थान भी नहीं मिलेगा—ऐसा भय आता है। ऐसा भय मत कीजिये।

अगर श्रीमती जी आज भोजन नहीं देंगीं तो तेरह दिनों तक का तो मुझे अनुभव है कि बिना भोजन के भी आदमी रह सकता है, काम कर सकता है। जल तो प्रभु ने दिया ही है, सूरज की धूप दी है, हवा भी मिलेगी। तो आप बड़े प्यार के साथ धीरजपूर्वक बिना भोजन किये, चले जाइये। आप सच मानिये, घर आते ही आपको वहुत बढ़िया भोजन मिलेगा और स्वास्थ्य भी अच्छा होजायेगा। और श्रीमती जी दूसरे दिन से समय पर भोजन देने लगेंगीं। लेकिन बिचारी भोजन बनवाते समय—आजकल बनवाने का रिवाज ज्यादा हो गया है, बना सकती हैं तब भी नहीं बनातीं। इसमें शान समझती हैं बनवाने में। हालांकि यह बड़ी भारी भूल की बात है। अपने प्यारे को अगर अपने हाथ से बना हुआ भोजन नहीं दे सकतीं तो बताइये, भोजन देने का अर्थ ही क्या रह गया ? यह तो होटल में भी मिल सकता था। यह हमारे यहाँ की चीज नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि दूसरे दिन से वह अपने आप आपके भोजन के संकल्प को अपना संकल्प मान लेंगीं, यह निर्विवाद सत्य है। और ऐसा नहीं किया तो क्या होगा ? भय लगा रहेगा। चलते-फिरते ऐसा भय रहेगा कि—कभी खीझ आयेगी, कभी क्रोध आयेगा, कभी भय होगा, क्योंकि भयभीत आदमी प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं कर सकता। चिन्ता-युक्त आदमी में नवीन सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं

होती। इसलिये हमारे जीवन से समाज में भय का जन्म हो जायेगा, चिन्ता का जन्म होजायेगा। अगर हमने अपने सभी संकल्प छोड़ दिये; कल्पना करो—भूखे रहते-रहते प्राण चले गये, तो क्या खाते-खाते प्राण नहीं जायेंगे? जरा सोचिये—भूखे रहते-रहते प्राण चले गये, तो क्या आपत्ति है? निर्विकल्प होकर प्राण चले जांय या संकल्पों की दासता में आबद्ध होकर प्राण चले जांय - इसमें विशेषता किसमें रहेगी? अपना हित किसमें रहेगा? तो हम सबको यह मानना पड़ेगा कि भाई, निर्विकल्प होकर ही मरना है; क्योंकि संकल्प लेकर तो जन्म हुआ। तो जैसे आये वैसे ही गये, तो मिला क्या? ज़रा सोचिये—जैसे आये वैसे ही गये, तो मिला कुछ नहीं।

इसलिये भाई! हम सबके शरीर की अभिव्यक्ति हुई है, उत्पत्ति हुई है संकल्प को लेकर, तो मरना है—निर्विकल्प होकर। उसका सीधा सुगम उपाय है कि संकल्प-पूर्ति का महत्व जीवन से निकल जाय। जब संकल्प-पूर्ति का महत्व जीवन से निकल जायेगा, तो आवश्यक संकल्प पूरे होकर मिटेंगे और अनावश्यक उत्पन्न ही नहीं होंगे, अर्थात् हमारे और आपके जीवन में स्वभाव से ही निर्विकल्पता रहने लगेगी। तो आप सच मानिये, निर्विकल्पता सामर्थ्य की जननी है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं। और सामर्थ्य के द्वारा ही हम सब अपने-अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं, अर्थात् योग, ज्ञान और प्रेम की प्राप्ति हो सकती है। उसी के लिए जीवन मिला है। इससे हमें और आपको यह मानना ही पड़ेगा कि मानव जीवन बड़े महत्व का जीवन है। और जीवन का जो सबसे पहला पुरुषार्थ है, वह है—अपने जाने हुए असत् का त्याग कर, असाधन का नाश कर, सत् का संग कर, साधननिष्ठ होकर, जो प्राप्त करना है, वह प्राप्त हो जाय—ऐसा मेरा विश्वास है।

जाने हुए असत् के त्याग से साधन का निर्माण होता है।

साधन निर्माण में मानव-मात्र स्वाधीन है।

संकल्प-पूर्ति जीवन नहीं है।

संकल्प-रहित होने में जीवन है।

संघ की नीति के अनुसार अपना गुरू, शासक और नेता व्यक्ति स्वयं है।

सत्संग मानव-जीवन का आरम्भ है और साधन परायणता मानव-जीवन का अन्त है।

सत्संग की विधि –
आपकी सुषुप्ति जागृति में बदले, तो थोड़ी देर जाग्रत अवस्था में सुषुप्ति-वत् विश्राम लीजिये। ध्यान, धारण, समाधि होजायेगी।

इसमें व्यर्थ-चिन्तन की समस्या आती है। जो आपके बिना किये होरहा है, उसे होने दीजिये, आप विश्राम में रहिये।

ऐसा नियम आरम्भ करने के बाद भी संकल्प-पूर्ति के सुख एवं अपूर्ति के क्षोभ से आक्रान्त होते रहने के कारण व्यर्थ-चिन्तन बना रहता है। अतः इसका अन्त करना होगा। तब शान्ति से स्वाधीनता और स्वाधीनता से प्रेम की ओर प्रगति होगी। प्रेम से अनन्त रस की उपलब्धि होती है।

१६

(अ)

मेरे निज स्वरूप उपस्थित महानुभाव,

मानव अपने निर्माण में असमर्थ तथा पराधीन नहीं है परन्तु फिर भी आज हम अपने वर्तमान परिवर्तनशील जीवन की ओर देखते हैं, तो ऐसा मालूम होता है, कि मानो स्वाधीनता और सामर्थ्य की गन्ध भी नहीं है। ये जो पहेली जीवन में प्रतीत होती है, आज इसी समस्या पर विचार करना है। यदि सचमुच हम अपने निर्माण में पराधीन हैं तो फिर साधन का प्रश्न ही नहीं आता, और यदि स्वाधीन हैं, तो असाधन नहीं रह सकता। प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन के जीवन में साधन की लालसा है और असाधन की प्रतीति है। साधन की लालसा रहते हुए जो असाधन की प्रतीति है, वो नाश क्यों नहीं होती ? नियम तो यही है न ! कि एक काल में अनेक लालसा नहीं रह सकतीं। साधन की लालसा भी हो, और असाधन भी बना रहे—ऐसा होता नहीं है। किन्तु आप-हम अपने जीवन में यही विचित्रता देखते हैं कि साधन की लालसा भी है, और असाधन में प्रवृत्ति भी है। ये जो द्वन्द्वात्मक स्थिति दिखाई देती है उसका कारण क्या है ? उसका कारण मुझे जो मालूम होता है वह तो यह है, कि जिसे हम असाधन मानते हैं उसके द्वारा भी सुख का भोग करते हैं। यदि असाधन-जनित सुख

का प्रलोभन जीवन में न होता तो जीवन में असाधन की उत्पत्ति ही नहीं होती।

अब ये प्रश्न उत्पन्न होगा, कि भला कहीं सुख का भी त्याग किया जा सकता है ? जबकि सुख प्राणी-मात्र को स्वभाव से प्रिय है। बात ठीक है, सुख का त्याग नहीं किया जा सकता। ये प्रश्न किसका होसकता है ? यह प्रश्न उसका होसकता है जिसके जीवन में केवल सुख हो, लेकिन सुख के आदि में व अन्त में दुःख ही दुःख होता हो, क्या उसका यह प्रश्न होसकता है ? यदि उसका यह प्रश्न हो सकता है, तो यह कहना पड़ेगा कि सुख के सुरक्षित रहते हुए यदि कोई सत्य मिल जाय तो, तब तो हम उसे चाहते हैं, और यदि सुख देने पर कोई सत्य मिले, तो उसकी हमें मांग नहीं है—एक बात।

दूसरी बात यह सोचिये, कि क्या कोई भी भाई, कोई भी बहन किसी सुख का भोग कर सकते हैं, जब तक कि वे दुःखी न हों ? और दुःख का अनुभव न करें ? अथवा कोई भी सुख ऐसा होसकता है कि जिसका परिणाम दुःख न हो ? अथवा कोई भी क्या सुख ऐसा होसकता है कि सुख के भोग काल में सुख में क्षति न हो, और सुख भोग की शक्ति का ह्रास न हो ? यदि ये बातें सिद्ध होजायं, तब तो निर्विवाद बात होजाती है कि भाई ! सुख जैसी वस्तु छोड़ने की नहीं है। किन्तु इन सब बातों के होते हुए आज न सही कल, कल न सही परसों, हरेक भाई को, हरेक बहन को सुख से निराश होना ही पड़ेगा।

मुझसे कुछ लोग कहते हैं कि आपकी बातें बहुत अच्छी लगती हैं, पर एक बात समझ में नहीं आती कि आप कहते हैं

कि सिद्धि वर्तमान जीवन की वस्तु है, यह कैसे होसकता है ? अगर यह होसकता होता, तो हम सब को सिद्धि क्यों नहीं मिलती ? मैं उन साधकों से यह निवेदन करना चाहता हूँ, कि जब मैं वर्तमान की वस्तु बताता हूँ, तो उससे पहले क्या कहता हूँ, इसका भी आपको ध्यान है ? उससे पहले यह निवेदन कर देता हूँ कि हम और आप अपने जाने हुए असत् का त्याग कर सकते हैं, तो सिद्धि वर्तमान की वस्तु है। यह तो मैं कभी नहीं कहता कि आप अपने जाने हुए असत् का त्याग मत कीजिए, और आपको सिद्धि मिल जायेगी। अब आप स्वयं सोचिए, कि क्या आपने अपने जाने हुए असत् का त्याग कर दिया ? यदि कर दिया हो, और फिर आप इस बात को देखें, कि सिद्धि वर्तमान की वस्तु नहीं है, तब आप प्रश्न कर सकते हैं। लेकिन आप तुरन्त कह देंगे, कि भला, कहीं अपने जाने हुए असत् का त्याग वर्तमान में होसकता है ? तो भाई ! सच मानिये, यदि कोई साधक मान लेता है, कि हम अपने जाने हुए असत् का त्याग भी वर्तमान में नहीं कर सकते, तो उसे यह भी मान लेना चाहिये, कि कभी उसके जीवन में साधन की अभिव्यक्ति भी नहीं होसकती। तो असाधन के त्याग के बिना, साधन की अभिव्यक्ति भी नहीं होती।

आप कहेंगे, कि हम तो इस बात को नहीं मानते। हमारे जीवन में असाधन भी रहता है और साधन भी रहता है, विषय-चिन्तन भी रहता है और भगवद्-चिन्तन भी रहता है, भोग की रुचि भी रहती है और योग की लालसा भी रहती है— ऐसा आप कहेंगे, कि स्वार्थ-भाव भी रहता है और कभी-कभी सेवा-भाव भी रहता है। तो असाधन के साथ-साथ किया

हुआ जो साधन है, वह एक ऐसे बड़े असाधन को जन्म देता है महाराज ! कि जिसके समान और कोई असाधन नहीं है। आप कहेंगे, कि वह कौनसा असाधन है ? वह है—मिथ्या अभिमान। आप सोचने लगते हैं, कि हम रोज पूजा करते हैं और रोज गायत्री का जप करते हैं। कोई सोचता है, कि हम रोज क़लमा पढ़ते हैं। कोई सोचता है कि हम नवाज़ पढ़ते हैं। कोई सोचता है कि हम गिरजा में जाते हैं। तो ये जो बातें हम और आप सोचते रहते हैं, असाधन के साथ-साथ साधन का जो अभिमान करते रहते हैं—सच मानिये ! सबसे बड़ा असाधन यही है।

बात तो सच्ची यह है कि जिस समय असाधन का त्याग होगा, उसी समय साधन की अभिव्यक्ति होगी, उसी समय साधन परायणता आजायेगी। और साधन परायणता में ही सिद्धि है। तो ये जो बात समझ में नहीं आती कि भला, वर्तमान में सिद्धि कैसे हो सकती है। उसका और कोई कारण नहीं है। इसका एकमात्र कारण यह है कि हम अपने जाने हुए असाधन का त्याग ईमानदारी से नहीं करते, सच्चाई के साथ नहीं करते। आप कहेंगे कि अपना जाना हुआ असाधन क्या है ? तो मैं ये आपसे पूछता हूँ—किसी भी वस्तु को आप जो अपना मानते हैं, क्या इसमें आपके विवेक का समर्थन है ? कोई भाई बताये, कोई बहन बताये। अरे ! अभी न बता सको तो जब तीसरे पहर का सत्संग होता है उसमें बतायें, कि भाई ! किसी भी वस्तु को अपना मानना, यह आपके ज्ञान से समर्थित है ?—नहीं है। यदि आपका ज्ञान इसका समर्थन कर देता तो कभी नहीं कहता कि आप किसी वस्तु को अपना मत

मानिये—एक बात। दूसरी बात—आप सोचिये कि किसी भी वस्तु को जहां आप अपना नहीं मानते हैं तो बताओ, क्या विकार आपके जीवन में रहता है? आप कहते हैं कि वर्तमान में सिद्धि नहीं होसकती। आप मुझे बतायें कि जब आप किसी भी वस्तु को अपना नहीं मानते हैं तो लोभ रहता है आपके मन में? मोह रहता है आपके मन में? काम रहता है आपके मन में? अगर आप ठीक-ठीक ईमानदारी की बात करेंगे तो ममता-रहित होते ही निर्विकार जीवन रहता है।

जब आप कहते हैं कि वर्तमान में तो निर्विकारता प्राप्त ही नहीं होसकती, धीरे-धीरे अभ्यास से प्राप्त होगी। तो भाई, सच बात तो यह है कि अभ्यास करते-करते ही जीवन का बहुत बड़ा भाग बीत गया। और हिन्दू धर्म के अनुसार तो न जाने कितने जन्म बीत गये होंगे। लेकिन दुःख की बात तो यह है कि सार्वजनिक वस्तुओं में भी हम ममता छोड़ना नहीं चाहते। जरा ध्यान दीजिये! व्यक्तिगत जो वस्तुएँ थीं उनमें ममता न छोड़ते तो एक बात थी, कि भाई! कैसे छोड़ें? हम तो यह देखते हैं कि सार्वजनिक जो वस्तुएँ हैं उनमें भी ममता कर लेते हैं। और फिर यह सोचते हैं कि भाई, इसमें तो हमारी ही बात चलनी चाहिये। अरे भाई! तुम्हारी बात क्यों चलनी चाहिये?—इसलिए चलनी चाहिये कि हमारा जो व्यक्तित्व है वह औरों की अपेक्षा हमारे लिए अधिक समीप है। जरा सोचिये तो सही, इस असाधन के रहते हम साधन का अभिमान नहीं कर सकते और यही कारण है, और कोई कारण नहीं है वर्तमान में सिद्धि में। हम अपने जाने हुए असाधन का त्याग नहीं करते।

इसी प्रकार जरा सोचिये ! किसी साधक से पूछो कि भाई, तुम ईमानदारी से बताओ, कि तुमने किसकी सत्ता स्वीकार की है ? हम नहीं कहते कि हमारे कहने से की है या किसी और के कहने से की है। तुमने अपने आप किसकी सत्ता स्वीकार की है ? और जिसकी आपने सत्ता स्वीकार की है, उसमें आपका विश्वास होना चाहिए कि नहीं ? जरा ध्यान दीजिए ! जिसकी सत्ता हम स्वीकार करें उसी में हमारा विश्वास न हो, तो यह किसका दोष है ? किसी और का दोष है ? यह किसी के भाग्य का दोष है ? या यह किसी परिस्थिति का दोष है ?—न यह भाग्य का दोष है भाई, न वह परिस्थिति का दोष है। यह तो अपना ही दोष है। तो अपने ही दोष का त्याग हम न करें, और कहें कि वर्तमान में सिद्धि कैसे होसकती है ? तो यह नियम है भाई, कि जिसकी हम सत्ता स्वीकार करेंगे उसमें विश्वास कभी भी कठिन नहीं है, न अस्वाभाविक है। अरे भाई ! जिसकी सत्ता स्वीकार कर लेते हैं उसमें विश्वास हो ही जाता है। और जिसमें विश्वास होजाता है उससे सम्बन्ध होजाता है। और जिससे सम्बन्ध हो जाता है उसकी स्मृति उदय होती है। और जिसकी स्मृति उदय होती है उसमें प्रीति होती है। और जिसमें प्रीति होती है उससे न दूरी रहती है, न भेद रहता है, न भिन्नता रहती है। इस दृष्टि से आपने जिसकी सत्ता स्वीकार की है, उसकी प्रीति वर्तमान की वस्तु होगई।

आप कहेंगे, कि अच्छा भाई, हमने तो जगत की सत्ता स्वीकार की।—बड़ी सुन्दर बात है ! जगत की न ! सत्ता स्वीकार की है, कहीं अपने व्यक्तिगत मकान की तो सत्ता स्वीकार नहीं की ? अगर जगत की सत्ता स्वीकार की है तब तो आपका

हृदय विश्व-प्रेम से भर जायेगा। क्यों ? क्योंकि जगत से ही सम्बन्ध रहेगा, जगत में ही प्रीति रहेगी। आप कहेंगे—नहीं ! नहीं !! हमने तो जगत की भी सत्ता को अस्वीकार कर दिया, केवल अपनी ही सत्ता स्वीकार की है। —बड़ी सुन्दर बात ! इसमें कोई आपत्ति नहीं। अगर आपने अपनी ही सत्ता स्वीकार की है तब आपकी प्रियता अपने ही में होगी। जब अपने में प्रियता होगी तब सभी अवस्थाओं से, सभी वस्तुओं से, सभी परिस्थितियों से असंगता आजायेगी। और असंगता आते ही सिद्धि मिल जायेगी। अब कोई कहे, कि नहीं ! नहीं !! हमने तो प्रभु की सत्ता स्वीकार की है।—तो फिर उस प्रभु में विश्वास, प्रभु से नित्य सम्बन्ध, प्रभु की अखण्ड स्मृति, प्रभु में परम प्रियता स्वतः जागृत होगी। आप सोचिये तो सही, कौनसा आप कारण ऐसा बता सकते हैं कि जिससे सिद्धि वर्तमान की वस्तु नहीं है ? हां, आप यही कहेंगे, कि भाई ! समझने से तो हम जानते हैं कि सारा जगत एक है। लेकिन जितनी एकता हमें अपने बनाये हुए मकान में, अपने पैदा किये हुए बच्चों में, अपने शरीर में मालूम होती है उतनी एकता जगत में नहीं मालूम होती, पर जानते तो हम यह हैं कि सारा जगत एक है।

तो तात्पर्य क्या हुआ ? कि जो हम जानते हैं उसी को हम नहीं मानेंगे। तो भाई ! इस बात को सामने रख कर तो आप भविष्य में भी सिद्धि नहीं पा सकेंगे। जो जानते हैं और उसी को नहीं मानेंगे, इसको स्वीकार करते हुए तो भविष्य में भी सिद्धि नहीं मिल सकती। तात्पर्य क्या निकला ? कि यदि हम सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं, तो जो जानते हैं उसको मानना

ही पड़ेगा। जब उसको मान लेते हैं तब सिद्धि वर्तमान की वस्तु होजाती है। आज की कठिनाई क्या है ? आज की सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि हम जो जानते हैं उसी को नहीं मानेंगे। लेकिन उसके साथ-साथ जानने का प्रयत्न करते रहते हैं। आप जानते हैं ? जब हम अपने जाने हुए को नहीं मानते हैं, तब जाने हुए का प्रभाव निर्जीव होजाता है, जाने हुए का प्रभाव सजीव नहीं रहता। क्यों ?—जो जानते हैं उसी को नहीं मानते, तो फिर जाने हुए में एक चमत्कार कैसे मालूम होगा ? अभी हम एक दिन एक साधक से बातें कर रहे थे। और बात करते-करते जब असंगता का विवेचन आया—व्यक्तिगत बातचीत थी—तो एक दम शान्त होकर कहने लगे—ये तो ऐसा मालूम हुआ मुझे, मानो, जैसे घोर अंधेरा था, अब प्रकाश होगया। बात तो ठीक ही है। सत्संग जो है, भाई! वह वर्तमान में ही सिद्धि देता है। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं। किन्तु दुःख की बात तो यही रह जाती है कि हम सत्संग के नाम पर तो सत् की चर्चा करते हैं और संग करते हैं असत् का। चर्चा सत् की और संग असत् का, तब क्या होता है ? एक द्वन्द्वात्मक स्थिति बनती है। द्वन्द्वात्मक स्थिति क्या बनती है ? कि चर्चा के नाम पर हमारे मस्तिष्क का तो बड़ा विकास होजाता है और दूसरों को समझाने के लिए हम भर पूर गुरू बन जाते हैं। लेकिन वस्तुस्थिति जो यह रहती है—असत् के संग की—उससे फिर अपने आप अपनी दृष्टि में निन्दनीय होजाते हैं, आदरणीय नहीं रहते। और सोचने लगते हैं कि हाय ! हाय !! क्या करें, अभी तक हमें तो कोई सिद्धि नहीं मिली।

मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि सत् की चर्चा करते-करते बहुत समय बीत गया। मैं यह नहीं कहता हूं कि आप सत् की चर्चा न करें। अवश्य करें, क्योंकि सत् की चर्चा नहीं करेंगे तो क्या असत् की चर्चा करेंगे? सत् की चर्चा करें, लेकिन इसके साथ-साथ सत् का संग भी करें। और वह सत् का संग किया कैसे जाता है? इस पर थोड़ा विचार कीजिये।—हमारे एक साथी हैं वे रोज हमसे कहते हैं, पैरों चिपकते हैं और कहते हैं, कि महाराज! हमें राग-रहित कर दीजिये। हम कहते हैं—अच्छा भाई! तुम बताओ, तुममें इस समय क्या राग है? मैंने विनोद में कहा—भैया! तुम तो राग-रहित हो, बताओ क्या राग है? तो आप बतायेंगे भूत काल की घटना के आधार पर। हमने कहा कि यह जो बात तुम कह रहे हो, भूत काल की है, कि वर्तमान काल की? कहता है—भूत काल की। तो हमने तो पहले ही तुमसे कहा था कि भूत काल सदोष है, निर्दोष है ही नहीं। तो तुम भूत काल के आधार पर वर्तमान की निर्दोषता को क्यों दूषित करते हो? उत्तर कुछ नहीं, किन्तु स्वीकृति भी नहीं। एक सज्जन कल हमसे कहने लगे, कि कहीं आप बोलते-बोलते चुप होगये तो बड़ी मुश्किल हो जायेगी।—क्या मुश्किल होजायेगी?—कि हमको कौन बतायेगा! हमने कहा—भाई! अगर आपने हमारी बात सुनी है तो आप सच मानिये कि आपको अपने लिए किसी भिन्न गुरू की आवश्यकता नहीं होगी।

आज इस बात को कितने भाई-बहिन मानने को राजी हैं? इस बात को तो आप मानने को राजी हैं, कि हम अमुक को गुरू बनालें। वह भी किसलिये? यह भी नहीं कि उस बनाये

हुए गुरू की भी बात मान लें। बात उसकी भी नहीं मानेंगे, और बात अपनी भी नहीं मानेंगे। जरा ध्यान तो दीजिये, जब हम अपनी भी न मानें और दूसरे की भी न मानें, किसी ग्रन्थ की भी न मानें, युक्ति से भी न मानें, विश्वास से भी न मानें, तो यह क्या है? यह असाधन है, कि साधन है? न मानने का रोग हमको लगा है। और किस बात के न मानने का? उस बात के न मानने का, जिसको हम जानते हैं। फिर भी दूसरों को समझाने के लिए कितने सुन्दर हम सिद्ध होते हैं भाई! कितने अच्छे मालूम होते हैं दूसरों को समझाने के लिये! और अपने को समझाने के लिए?—कि अपने को समझाने के लिए तो हम कुछ भी नहीं हैं। तो वर्तमान में सिद्धि नहीं होती उसका कारण एक मात्र यह है, कि आज हम दूसरों को समझाने का तो पेशा करते हैं, और अपने समझने से हार स्वीकार करते हैं। अपने को नहीं समझा सकते—ऐसी बात नहीं है। अपने को समझा सकते हैं किन्तु पहले ही से हार स्वीकार कर लेते हैं, कि भला यह कैसे हो सकता है!

मैं आपसे पूछता हूं, कि यह नहीं होसकता है तो आप साधन करने की क्यों सोचते हैं? अगर आप यह मानते हैं, कि सिद्धि नहीं होसकती तो साधन करने की क्यों सोचते हैं? आप कहेंगे कि साधन करने की तो इसलिए सोचते हैं कि कालान्तर में जन्म-जन्मान्तर में हमको सिद्धि मिलेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि अभी हम असाधन-जनित सुख का भोग करना चाहते हैं। सीधी-सादी बात। मनोविज्ञान का एक बड़ा भारी सिद्धान्त है। और वह सिद्धान्त यह है जहां तक मैंने समझा है, सोचा है, विचार किया है, कि अगर हमें अपनी वस्तुस्थिति का ठीक

परिचय होजाय और हम उसको जान लें कि हम ऐसे ही हैं, तो वह वस्तुस्थिति बदल जाती है। वह बदल जाती है, रहती नहीं। तो अगर हम इस बात को भी मान लें, कि भाई ! अभी तो हम असाधन-जनित सुख का ही भोग करना चाहते हैं— इस बात को भी स्पष्ट रूप से जान लें और स्वीकार करलें तो मैं सच कहता हूं कि असाधन-जनित सुख की दासता नाश होजाय।

तो आज की जो समस्या साधक के सामने है तो वह यह समस्या नहीं है कि वह सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। वह समस्या यह है कि वह सिद्धि प्राप्त करने के लिए वर्तमान में राजी है ? यदि राजी है, तो उसे सिद्धि मिल सकती है, मिल सकती है। इसमें लेश-मात्र भी सन्देह नहीं। तो वर्तमान में हम सिद्धि के लिए राजी हैं, इसकी कसौटी क्या होगी ? इसकी कसौटी केवल यही होगी कि हम और आप अपने जाने हुए असाधन का त्याग कर देंगे, अर्थात् उससे हमें अरुचि होजायेगी। और कल्पना करो, कि यदि किसी असाधन का त्याग भी नहीं कर सकें, तो त्याग न करने की एक व्यथा जागृत होजायेगी, एक वेदना पैदा होजायेगी। आप जानते हैं ? कौनसी निर्बलता ऐसी है जो वेदना की अग्नि में भस्मीभूत नहीं होजाती ?—कोई निर्बलता नहीं, कोई पाप ऐसा नहीं, कोई बुराई ऐसी नहीं जो वेदना की अग्नि में जल नहीं जाती। और यह बात कितनी स्वाभाविक है ! कि जो बात हम चाहते हैं और वह बात यदि नहीं होती है, तो व्याकुलता स्वाभाविक है। व्याकुलता में लेश-मात्र भी अस्वाभाविकता नहीं। लेकिन हम कहें तो यह, कि हम राग-रहित होना चाहते हैं और जीवन कैसा हो ? कि भाई !

राग-युक्त। जो भोग की रुचि है उसकी भी पूर्ति चाहते हैं। भोग की रुचि की पूर्ति और राग-रहित जीवन—ये दोनों हम चाहते हैं एक साथ। इसलिए भाई ! हमें और आपको सिद्धि वर्तमान की नहीं मालूम होती। नहीं तो, राग-रहित होने में तो कोई भी प्राणी कभी भी पराधीन नहीं है। भोग की रुचि की पूर्ति में कोई भी प्राणी कभी भी स्वाधीन नहीं है।

हमारी वास्तविक स्थिति क्या है ? कि पराधीन जिसमें हैं उसको भी चाहते हैं, और स्वाधीन जिसमें हैं उसको भी चाहते हैं। ऐसा नहीं चाहते कि जिसमें पराधीन हैं उसको तो नहीं चाहते, जिसमें स्वाधीन हैं उसी को हम चाहते हैं। यही एक कारण है कि वर्तमान में सिद्धि नहीं दिखाई देती। वास्तव में तो यह मानव-जीवन सिद्धि के लिए ही मिला है। अगर सिद्धि न हो सकती होती, तो मैं आपसे पूछता हूं, कि मानव-जीवन की आवश्यकता ही क्या थी ? मानव-जीवन हमको मिलता ही क्यों ? अब इसमें आप अपनी एक बुद्धिमानी लगायेंगे, और यह कहेंगे, कि मानव जीवन में भी अनेक श्रेणियां हैं। एक श्रेणी के हम सब मानव नहीं हैं। इस सम्बन्ध में मेरा अपना यह विश्वास है अथवा विचार है कि अनेक श्रेणियों के कारण अनेक साधन हैं, न कि सिद्धि में पराधीनता है। आप लोग इस बात को नहीं मानते और ऐसा मान लेते हैं, कि एक बेपढ़ा-लिखा आदमी, जाहिल आदमी कहता है कि वर्तमान में सिद्धि है। भला ग्रन्थों में तो लिखा है कि अनेक जन्मों में सिद्धि होती है। —भाई ! तुम्हारे पास यह लिख कर के आगया है कि तुम्हारे अनेक जन्म नहीं होचुके ? मैं तुमसे पूछता हूं कि क्या तुम्हें मालूम है कि तुम्हारे अनेक जन्म नहीं होचुके ? मैं तो ऐसा ही

मानता हूं कि अनेक जन्मों के बाद ही मानव-जीवन होता है। और जब अनेक जन्मों के बाद मानव-जीवन होता है, तो उसमें सिद्धि होती है।

अब आप कहेंगे, कि उन ग्रन्थों में ऐसा भी तो लिखा है कि भाई ! अगर साधन करते-करते यह शरीर छट जाता है या प्राण शक्ति नाश होजाती है, तो हमें एक उत्कृष्ट घर में, एक ऊँचे घर में जन्म मिलता है, और फिर हम साधन करने लगते हैं। मैं तो मानता हूं, कि यह सब बात भगवान् वेद व्यास ने इसलिये लिखी हैं, कि साधक निराश होकरके घबरा न जाय, साधन आरम्भ करदे। जैसे किसी बालक से कहा, जब कान छेदना हो तो—लो, लड्डू खाओ। लड्डू मुँह में दिया और कान छेद दिया। अरे भाई ! साधन आरम्भ तो कर दो, सिद्धि तो हो ही जायेगी। स्वयं भूल जाओगे, कि अनेक जन्मों की बात नहीं है, वर्तमान की बात है। स्वयं भूल जाओगे। परन्तु हम लोग अपनी निर्बलता को पोषित करने के लिए, अथवा अपने दोषों को गुण का रूप देने के लिए इस प्रकार के बहाने भर लेते हैं दिमाग में और फिर सोचने लगते हैं, कि भला वर्तमान में सिद्धि कैसे होसकती है ! आप सच मानिये, सिद्धि वर्तमान ही में होती है। भविष्य में कभी सिद्धि नहीं होती। भविष्य में तो उसकी प्राप्ति होती है जो वर्तमान में नहीं है, अर्थात् जिसकी उत्पत्ति हो। और जिसकी उत्पत्ति हो, उसका विनाश होगा ही। और जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त है, उसकी प्राप्ति सिद्धि नहीं है। सिद्धि कहते ही उसको हैं, कि हमें उसकी प्राप्ति हो जो वर्तमान में है। तो जो वर्तमान में है, जरा सोचिये, साध्य तो हो वर्तमान में, और साधक यह माने कि हमें भविष्य में

मिलेगा। जरा ध्यान दीजिये, साध्य तो है वर्तमान में, और मिलेगा भविष्य में ?

और एक बात सोचिए, कि भोग-प्राप्ति का विधान क्या है ? और साध्य-प्राप्ति का विधान क्या है ? भोग-प्राप्ति का तो विधान यह है कि वर्तमान का कर्म भविष्य में भोग की उपलब्धि कराता है। और साध्य-प्राप्ति का विधान क्या है ? कि वर्तमान की आवश्यकता साध्य को वर्तमान में मिला देती है। तो जो सिद्धि आवश्यकता-मात्र से प्राप्त होती है उसके लिए तो भविष्य की आशा करना, और जो भोग कर्म अपेक्षित है उसके लिए आशा रखना कि जरूर मिल जायेगा ! आप विचार कीजिये, जितना हम लोग इस बात पर विश्वास करते हैं, कि निर्माण निकेतन में अच्छी-अच्छी बिल्डिंग्स बन जायेंगी, क्या उतना इस बात पर विश्वास करते हैं कि यहां बैठ कर हम सिद्ध होजायेंगे ? जरा ध्यान तो दीजिये, कितने लोग ऐसे हैं जो इस बात पर विश्वास करते हैं ?

१६

(ब)

सत्य जिस किसी को मिला है वह तब मिला है, कि जिस परिस्थिति में वह था, उस परिस्थिति का सदुपयोग करके उससे जब ऊपर उठा, तब उसे सत्य मिला। इसलिए भाई ! आपको अगर वर्तमान में सिद्धि प्राप्त करना है तो घर से निर्मम होकर यहां आकर बैठ जाओ, और उसी क्षण सिद्धि न होजाय, तो हमें फांसी लगाओ। उसी क्षण सिद्धि होजायेगी। लेकिन आप कहेंगे कि हम निर्मम कैसे होसकते हैं ! तो हम आपसे कहेंगे, कि आप ममता को कैसे सुरक्षित रख सकते हैं ? अगर आप निर्मम नहीं होसकते, तो आप ममता को कैसे सुरक्षित रख सकते हैं ? हां, यह बात कर सकते हैं, कि वस्तु तो नहीं रहेगी, ममता रह जायेगी। वस्तु तो नहीं रहेगी, सम्बन्ध रह जायेगा। तो बिना वस्तु के सम्बन्ध रखने में, बिना वस्तु के ममता करने में हमारा जीवन बीता जा रहा है भाई ! यही कारण है कि सिद्धि नहीं होती। सिद्धि के लिए इस बात की बड़ी भारी आवश्यकता है कि आप अपने जाने हुए असत् का त्याग करें। और जिस समय आप अपने जाने हुए असत् का त्याग करते हैं उसी समय साधन की अभिव्यक्ति होती है। और साधन की अभिव्यक्ति होने से ही सिद्धि मिलती है।

हमारे धर्म प्रचारकों ने, आधुनिक धर्म प्रचारक जो हैं उन्होंने हर भाई के मन में दो बातें बड़े जोर से बैठा दी हैं। चालीस-चालीस, पचास-पचास वर्ष हो गया लोगों को प्रचार करते हुए, कि भई, किसी वस्तु को अपना मत मानो, अपना मत मानो। लेकिन जब किसी मजदूर को मजदूरी देते हैं तब, अरे भाई ! तुम्हें नहीं मालूम है ? यह धर्म का काम है। मतलब यह कि धर्म का काम है तो और जगह अगर तुम्हें ज्यादा मिलता है, उससे कम लो। इसमें किसका महत्व बढ़ा ? उसी पैसा का। और है किसका ? बोले- हमारा बिल्कुल नहीं है। पैसा हमारा नहीं है, लेकिन मजदूरी पूरी देने में धर्म के काम का बहाना लेते हैं—अरे भाई ! कम खर्च करो। आज कल तुम्हें मालूम है ? क्या है ? कि जिनके पास करोड़ों रुपया है वे कहते हैं, कि कम खर्च करो। किस बात में ? कि चार तरकारी खाते थे अब दो खायेंगे। सिद्धि मिलेगी ? अरे, कम खर्च करने से सिद्धि अगर मिलती तो कम खर्च तो हमेशा करते ही रहे हैं आप। औरों के ऊपर कम खर्च का प्रयोग करते हैं कि नहीं ?

आज का मिल-औनर क्या करता है ? मजदूर के ऊपर कम खर्च का प्रयोग करता है। आज का मजदूर क्या करता है ? कि काम करने में कमी रखने का रोज प्रयत्न करता है कि कम से कम काम करना पड़े और ज्यादा-से-ज्यादा पैसा मिल जाय। तो न कम खर्च करने से सत्य मिलता है, और न अधिक खर्च करने से सत्य मिलता है। सत्य मिलता है—वस्तु को अपना न मानने से। और यह साधन आज हमारे लिए बड़ा दुर्लभ होगया। क्यों ? अपना न मानना इतना दुर्लभ होगया है

कि ईमानदारी से हम इस बात को नहीं मान पाते। अगर ईमानदारी से आप इस बात को मान लेते हैं, तो लोभ का दोष चित्त में नहीं रहेगा, और मोह का दोष चित्त में नहीं रहेगा, और काम का दोष चित्त में नहीं रहेगा। मान लीजिये आप, अभी मान लीजिये कि कोई वस्तु हमारी नहीं है। फिर देखें, आपके चित्त में विकार किस तरह पैदा होजाय ! कभी विकार पैदा नहीं होसकता। लेकिन इस बात को मानने से पूर्व हम कहते हैं, कि बताओ, वर्तमान में सिद्धि कैसे होसकती है ? तो सच बात है, नहीं होसकती, क्योंकि हम अपने जाने हुए असत् का त्याग नहीं कर सकते। इसलिये सिद्धि नहीं होसकती। और यदि हम जाने हुए असत् का त्याग कर सकते हैं, तो सिद्धि अवश्य होसकती है।

कहने का मेरा तात्पर्य यह था, कि आज की साधन-प्रणाली क्या है ? आज की साधन-प्रणाली यह है कि मोहवश घर में शासन किया, अब चले धर्म कमाने, तो धर्म के नाम पर भी करेंगे शासन। सेवा नहीं करेंगे। निरभिमानता को नहीं अपनायेंगे। वहां भी एक सुन्दर-सा अभिमान रखेंगे। क्यों ? हमने ज्यादा रुपया दिया है, तो हमको ज्यादा अधिकार मिलना चाहिये। हम ज्यादा समय लगाते हैं, तो हमारी ज्यादा बात चलनी चाहिये। और अगर कोई यह कहे, कि अच्छा भाई ! देखो, तुम्हारी ही बात चलेगी। तब भय लगता है। क्यों ? अपने पर विश्वास नहीं है कि हम इस बात को निभा सकते हैं। क्यों विश्वास नहीं है ? इसलिए विश्वास नहीं है, कि ईमानदारी से हमने अपने जीवन को किसी को दिया नहीं। और जब तक हम ईमानदारी से किसी को अपना जीवन नहीं दे सकते, तब

तक बताइये, हम अपनी सारी शक्ति कैसे लगा सकते हैं ? और जब तक हम अपनी सारी शक्ति नहीं लगा सकते, तब तक हमें अपने में कैसे विश्वास होसकता है ? कि हम काम कर सकते हैं। मैं आपको विश्वास दिलाता हूं, कि जिस वक्त आप अपनी सारी शक्ति लगा देंगे, कोई समस्या आपकी ऐसी हो नहीं सकती जिसको आप हल न करलें। लेकिन अपनी सारी शक्ति लगायेंगे नहीं, उसका परिणाम होगा कि अपने में विश्वास होगा नहीं। और जिसको अपने में विश्वास नहीं होता, उसे सच मानो तो, किसी में विश्वास नहीं होता। यह नियम है। दूसरे पर हम विश्वास कर सकते हैं। इसलिए नहीं करते कि दूसरा विश्वास के योग्य नहीं है। इसलिये अविश्वास करते हैं, कि हमें अपने ही में विश्वास नहीं है।

आज का साधक अपने संकल्प पर कितना अविश्वास करता है ! किस पर ? कि मैं भगवान् का हूं, भगवान् मेरे हैं। मैं आपसे पूछता हूं कि इसमें क्या कठिनाई थी आपको ? लेकिन इसी संकल्प में विकल्प क्यों होता है ? कि अपने में विश्वास नहीं। नहीं ! तो, मैं यह कहता हूं कि भगवान् भी आकर यह कहते कि 'नहीं-नहीं, तुम हमारे नहीं हो, हम तुम्हारे नहीं हैं।' तब भी हंस कर यह कहते कि 'आप भूल सकते हैं, मैं नहीं सकता हूं, तुम भी हमारे हो और हम भी तुम्हारे हैं।' यह बल कब आता है जीवन में ? यह बल तब आता है कि जब साधक अपने पर अविश्वास नहीं करता। हमसे सबसे बड़ी भूल यही होती है महाराज ! कि हम अपने पर अविश्वास कर बैठते हैं। और जब हम अपने पर अविश्वास कर बैठते हैं तो अपनी भावना में भी अविश्वास कर बैठते हैं, और अपनी जानकारी

में भी सन्देह कर बैठते हैं। इसलिये अगर आपको वर्तमान में सिद्धि प्राप्त करना है तो अपने पर अविश्वास मत कीजिए। आप इस बात को मानिये, कि यदि मैंने यह कह दिया है—कि हे प्रभु ! मैं तेरा हूं, तो किसी का साहस नहीं है, कि इस संकल्प को तोड़ सके, इस विश्वास को तोड़ सके। क्योंकि मैंने कह दिया है कि मैं तेरा हूं। यदि मैंने यह स्वीकार कर लिया है, कि कोई वस्तु मेरी नहीं है, तो संसार की शक्ति नहीं है कि मुझमें किसी वस्तु की ममता को लगा सके। आप सच मानिये, जिस समय आप अपने में विश्वास करके दृढ़ता पूर्वक अपनी किसी साधना को स्वीकार करेंगे, तो सिद्धि वर्तमान में होगी। लेकिन भाई ! जब तक हम और आप अपने ही पर अविश्वास करेंगे, अपने ही सम्बन्ध पर अविश्वास करेंगे, अपनी ही जानकारी पर सन्देह करेंगे, अपनी ही मान्यता में विकल्प करेंगे, तब तक बताइये, सिद्धि कैसे होसकती है ?

कहने का मेरा तात्पर्य था, कि सिद्धि तो वर्तमान की वस्तु है। पर कब ? जब हम जो जानते है, और मानते हैं, और जो कर सकते हैं, उसमें न बचायें। अब आप कहेंगे, कि हम जो जानते हैं उसको मानलें, तो इसके लिये हमें क्या करना है ? जरा ध्यान तो दीजिये, साधन का अगर आप साधन ढूंढ़ते रहेंगे, तो साधन कभी नहीं होगा। क्योंकि साधन कहते ही उसको हैं जिसको आप कर सकें। तो आप अपनी रुचि, योग्यता, सामर्थ्य के अनुसार किसी एक साधन के सम्बन्ध में यह निर्णय कर लीजिये, कि यह हम जरूर करेंगे। वह साधन चाहे जैसा हो, चाहे जिस मत के अनुसार हो, चाहे जिस विचारधारा के अनुसार हो, उसकी आप चिन्ता न करें। आप

अपना कोई साधन, यह निर्णय कर लीजिये कि यह हम कर सकते हैं। जिसके सम्बन्ध में आप यह न कह सकें कि इसमें हमारा मन नहीं लगता, इसमें हमको विश्वास नहीं है, यह हमारी सामर्थ्य के बाहर है। यह तीन बातें न कर सकें, जिस साधन के सम्बन्ध में, तो साधन चाहे जैसा हो, उसको आप स्वीकार कीजिये। आपको वर्तमान में सिद्धि मिलेगी।

लेकिन भाई! जब आप किसी भी साधन के करने में अपने को समर्थ नहीं मानते हैं, किसी भी साधन में आप विकल्प-रहित विश्वास नहीं करते हैं, कोई भी साधन आपको रुचिकर नहीं है। तो जब साधन ही रुचिकर नहीं है तो जरा सोचिये, तो सिद्धि हो कैसे? सिद्धि में बाधक यह नहीं है कि आपने अमुक साधन नहीं किया, यह चीज सिद्धि में बाधक नहीं है। सिद्धि में बाधक यह है कि कोई भी एक साधन आपको पूरा कर देना चाहिए, जिसमें आपकी रुचि हो, जिसमें आपको सन्देह न हो, जो आपकी सामर्थ्य के अनुसार हो, कोई भी साधन। इसी का नाम है—मानव सेवा संघ की साधन-प्रणाली।

कल मुझसे कुछ लोग बात कर रहे थे, तो मैंने उनसे कहा कि भई, देखो! मानव सेवा संघ के आश्रम में किसको रहना चाहिए? तो मैंने उनसे कहा कि कम से कम उस साधक में एक उदारता अवश्य हो। वह क्या? कि वह अपने मत, अपनी विचार-धारा का बोझा दूसरों के ऊपर न लादे। और उसमें इतनी ईमानदारी हो इस बात के लिए कि भाई, चाहे हम ईश्वरवादी हैं, आप भले ही अनीश्वरवादी हैं, हम आप से कभी इस बात पर जोर नहीं डालेंगे कि आप भी ईश्वरवादी होजाइए। और अनीश्वरवादी कभी इस बात पर जोर न डाले

कि आप अनीश्वरवादी होजाइये। एक बात पर जोर डालें कि जो बात हम मानते हैं, जो बात हम जानते हैं, उसके द्वारा हम अपने को इतना सुन्दर बनायें कि हमारी सुन्दरता दूसरों के लिए हितकर सिद्ध होजाय, उपयोगी सिद्ध होजाय। ऐसे व्यक्तियों की यहां रहने की आवश्यकता है। ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता नहीं है जो यहां बैठ कर यह मिथ्या-अभिमान करें कि हमारे सिद्धान्त को सारा संसार मान ले।

जरा सोचो तो सही मेरे भाई ! आज तक कोई ऐसा हुआ कि जिसके सिद्धान्त का सारे संसार ने मान लिया हो ? और आप जिस अपने मत को, जिस अपने साधन को सारे संसार को मनाना चाहते हैं, क्या अपनी पत्नी को भी मना सके ? अपने पुत्र को भी मना सके ? और उसी साधन को क्या आप अपने जीवन में पूर्ण रूप से मना सके ? जिस साधन को हम अपने जीवन में नहीं मना सके, जिस साधन को हम अपने कुटुम्बियों के जीवन में नहीं मना सके, उस साधन का हम दम भरते हैं कि हम सारे संसार में फैला देंगे ? बिल्कुल झूठी बात। और इसी दोष से महाराज ! आज मजहब असफल हुआ। और हमारी पार्टी ही संसार से शान्ति की स्थापना कर सकती है, हमारी ही पद्धति सबको शान्ति दे सकती है— इसी ममता और इसी अभिमान से राष्ट्र असफल हुआ। और इस असफलता को मिटाने के लिए सच पूछो भाई मेरे ! मानव सेवा संघ का प्रादुर्भाव हुआ कि जीवन राष्ट्र के होते हुए असफल ! सम्प्रदाय और मजहब के होते हुए असफल ! उस असफलता का कारण क्या है ? उस असफलता का एक-मात्र कारण यह है कि हम अपनी पद्धति से संसार को सुन्दर

बनाना चाहते हैं। और प्रत्येक व्यक्ति में जो एक अपनापन, एक व्यक्तिगत जो उसका सत्य है, उसकी व्यक्तिगत जो एक रुचि है, उसके द्वारा उसे सत्य का अनुभव नहीं करने देते, सत्य को प्राप्त नहीं करने देते। तभी तो लोग दिन-रात सिखाने के फेर में लगे रहते हैं।

मैं तो सच कहता हूँ आपसे, आप लोगों के सम्पर्क से कहिये अथवा कोई मेरी अपनी निर्बलता मान लीजिये कि जो मैं आपसे यह कहता हूं कि आपको यह करना चाहिये। यह बात कहना ही दूसरे के साथ बहुत बड़ा अन्याय करना है। कहना तो क्या चाहिये? कि भाई! जो तुम कर सकते हो उसके द्वारा तुम अपने को सुन्दर बनाओ, जो तुम जानते हो उसके द्वारा तुम अपने को सुन्दर बनाओ, जो तुम मानते हो उसके द्वारा तुम अपने को सुन्दर बनाओ। इस प्रकार की सद्भावना को लेकर, जो मानव सेवा संघ की नीति के अनुसार आश्रम में रहेगा, सच मानिये, वह तो सिद्ध हो ही जायेगा, इसमें तो सन्देह है ही नहीं, और उसके द्वारा लोक का बहुत बड़ा हित होगा। और अगर आपने भीतर से तो कुछ और रखा और ऊपर से—कौन हैं साहब? बोले, हमने मानव सेवा संघ को जीवन दिया है। कौन हैं साहब? —हम मानव सेवा संघ की कार्यकारिणी के सदस्य हैं। बहुत ठीक! बड़ी सुन्दर बात कि आप कार्यकारिणी के सदस्य हैं। लेकिन आपका जीवन क्या है? कि जीवन तो यह है कि दूसरे लोगों को हमारा ही सत्य मानना चाहिये। जब आपका यह जीवन है तो आप माफ कीजिये, आपके द्वारा मानव सेवा संघ कलंकित हो सकता है, प्रकाशित नहीं हो सकता। और आप मानव सेवा

संघ के द्वारा अपना विकास नहीं कर सकते। मानव सेवा संघ की साधन-प्रणाली के सम्बन्ध में स्पष्ट नीति है, और वह नीति यह है कि प्रत्येक भाई साधन करने में समर्थ है और प्रत्येक भाई को सिद्धि मिल सकती है।

…… लेकिन किस साधन से ? कि जिस साधन को वह कर सके। जिस साधन को वह नहीं कर सकता उससे सिद्धि नहीं मिल सकती।

आप कहेंगे कि क्या कोई ऐसा भी साधन है जिसके लिए सभी इन्कार कर दें ?—कोई ऐसा साधन नहीं है। प्रत्येक भाई के जीवन में, प्रत्येक बहिन के जीवन में साधन-सामग्री है, साधन करने की सामर्थ्य है। लेकिन किस साधन को करने की सामर्थ्य है ? उस साधन को करने की सामर्थ्य है जिसे कि वह कर सकता है। इसलिए भाई, यहाँ के सत्संग की विधि क्या होनी चाहिए ? यहाँ के सत्संग की विधि यह नहीं होनी चाहिये कि हम तो जानते हैं और आप नहीं जानते। यहाँ के सत्संग की विधि होनी चाहिये कि जो आप जानते हैं, जो आप मानते हैं, जो आप कर सकते हैं, उसमें आपकी सद्भावना हो। उसमें आपकी निष्ठा हो। और दूसरी बात कि जो आप जानते हैं, कहीं उसका आप विरोध तो नहीं करते ? और जो आप मानते हैं, उसमें कहीं आपके ही विवेक का विरोध तो नहीं है ? और जो आप करते हैं उसमें कहीं आपके विवेक का विरोध तो नहीं है ? जानने और करने में तो विवेक का प्रकाश होना चाहिये। और मानने में, जो भी बात आप मानते हैं, उसमें अविचल श्रद्धा रखनी चाहिये, आस्था रखनी चाहिये। उसका प्रभाव होना चाहिये कि हम

सबको सिद्धि मिल सकती है। क्यों ? मानव-जीवन सिद्धि के ही लिए है।

तो यह जो मानव जीवन है, इसमें इस बात की आवश्यकता नहीं है कि हम किसी और के गुरू बनें, हम किसी और के नेता बनें। इसमें सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि हम अपना गुरू बनना सीखें, अपना नेता बनना सीखें। अपने को समझा-बुझा सकें और अपने द्वारा अपने साधन का निर्माण कर सकें। यह बात सुन कर बहुत से भाई-बहन सन्देह नहीं करते हैं। न जाने, क्यों नहीं करते हैं। पर बहुत से भाई-बहनों के मन में तो यह बात खास तौर से बैठी हुई है कि भला, कोई अपना गुरू कैसे होसकता है ! बिना गुरू के, भला ज्ञान कैसे होसकता है ! मैं आपसे पूछता हूं कि ईमानदारी से बताओ, तुमने अपना गुरू तो बना लिया, दीक्षा भी ले ली, साधन भी करने लगे, सिद्धि होगई ? अगर गुरू बनाने मात्र से सिद्धि होती तो आपको हुई क्यों नहीं ? इस सत्य का तो हम अनादर करें, और जो वास्तव में यह सत्य है कि हम अपने गुरू आप बन जाते तो सिद्धि जरूर होजाती। तो अपने गुरू बनने के लिए क्या करना पड़ता है ? अपने जाने हुए असत् का त्याग करना पड़ता है, अपने विश्वास में अविचल श्रद्धा करनी पड़ती है और मिले हुए का सदुपयोग करना पड़ता है।

तो भाई, आज का जो मौलिक प्रश्न जीवन में है, वह केवल इतना है कि हर भाई को, हर बहन को अपना गुरू बन कर अपने को सुन्दर बनाना है। संसार जो है, वह और किसी सिद्धान्त को नहीं मानता। संसार पर प्रभाव होता है आपकी सुन्दरता का। वह भी प्रभाव कब होता है ? आप जानते हैं ?

ईसा का व्यक्तित्व जब गल गया तब ईसा का प्रभाव हुआ। यह संसार ऐसी विचित्र चीज है कि जीवित रहने पर विरोध करे और मरने के बाद पूजा करे। अगर यह कीमत आपको चाहिये तो सुधारक में नाम लिखाइये। जीते जी आपका विरोध होता रहे और मरने के बाद आपकी पूजा हो ही जायेगी। इसलिये भाई! संसार के सुधार का तरीका है—अपना सुधार। और अपने सुधार का तरीका है—कि जो आप जानते हैं, उसका विरोध आप कभी मत कीजिए, उसमें आप सन्देह कभी मत कीजिए, चाहे सारा संसार मिलकर आपसे कहे कि नहीं-नहीं, आप जो जानते हैं, वह गलत जानते हैं। भाई! ज्ञान कभी गलत नहीं होता। जरा ध्यान दीजिये, ज्ञान कभी गलत नहीं होता। जब ज्ञान गलत ही नहीं होता तब फिर आप कैसे अपने ज्ञान में सन्देह करेंगे? और जो अपने ज्ञान में सन्देह नहीं करेगा, वह किसी वस्तु को अपना कह ही नहीं सकता। यही तो पहचान है अपने ज्ञान की। वह विवेक विरोधी कर्म कर ही नहीं सकता। वह विवेक विरोधी विश्वास जीवन में रख ही नहीं सकता। जिसके जीवन में विवेक विरोधी विश्वास नहीं रहता उसके जीवन में प्रभु विश्वास की अभिव्यक्ति होती है। जिसके जीवन में विवेक विरोधी सम्बन्ध नहीं रहता, वह निर्विकार हो जाता है। और जो विवेक विरोधी कर्म नहीं करता, उसके द्वारा सुन्दर समाज का निर्माण होजाता है।

अब आप विचार तो कीजिये, सिद्धि में क्या प्रतिबन्ध है? अगर आप यह चाहते हैं कि सुन्दर समाज का निर्माण हो, तो इसी क्षण से विवेक विरोधी कर्म का त्याग कर दीजिये। आप विवेक विरोधी कर्म का त्याग कर दीजिये, यदि आपके जीवन

के द्वारा सुन्दर समाज का निर्माण न हो, तो जो चाहो सो कीजिये। अवश्य होजायेगा। अगर आप यह चाहते हैं कि आपके जीवन में निर्विकारता अभी आजाय, तो विवेक विरोधी सम्बन्ध तोड़ दीजिए। अगर निर्विकारता न आजाय तो आप मुझको फांसी लगा दीजिये। अगर आप चाहते हैं कि आपके जीवन में प्रभु विश्वास दृढ़ होजाय, कभी न हटे, तो विवेक विरोधी विश्वास छोड़ दीजिये। अब आप सोचिये कि इन तीन बातों के स्वीकार करने के बाद भी अगर आपको सिद्धि न मिले, तब आप प्रश्न कीजिए कि सिद्धि वर्तमान की वस्तु नहीं है। लेकिन विवेक विरोधी विश्वास धीरे-धीरे छोड़ेंगे, विवेक विरोधी सम्बन्ध धीरे-धीरे तोड़ेंगे, विवेक विरोधी कर्म का त्याग धीरे-धीरे करेंगे। फिर कहें कि यह तो बात गलत मालूम होती है कि वर्तमान में सिद्धि हो सकती है। अरे बाबा, जो वर्तमान में करने की बात है उसे आप धीरे-धीरे पर टालते हैं। वर्तमान में जो करने की बात है, उसे आप वर्तमान में कर दीजिये। और फिर अगर वर्तमान में सिद्धि न हो, तब आप प्रश्न कीजिये। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि आप प्रश्नकर्त्ता नहीं रह जायेंगे, आप उसी समय उत्तरदाता होजायेंगे।

गुरू के मिलने का मालूम है, फल क्या है ? गुरू होजाना। तो उसी समय आप स्वयं उत्तर देने लगेंगे, कहेंगे कि बात ठीक है, सिद्धि वर्तमान में ही होती है। परन्तु भाई मेरे, यह बात किसी और को सिखाने की नहीं, किसी और को समझाने की नहीं। यह बात स्वयं अपने द्वारा अपने को समझाने की है। अगर हमारे हृदय में सुन्दर समाज निर्माण न होने की व्यथा है, तो हम कभी विवेक विरोधी कर्म नहीं कर सकते। अगर

हमारे हृदय में निर्विकार न होने की व्यथा है, तो हम कभी विवेक विरोधी सम्बन्ध नहीं रख सकते। अगर हमारे हृदय में प्रभु-प्राप्ति न होने की व्यथा है, तो हम कभी विवेक विरोधी विश्वास नहीं रख सकते। देखिये, आस्तिक दर्शन का अर्थ है—प्रभु विश्वास। अध्यात्म दर्शन का अर्थ है– विवेक विरोधी सम्बन्ध का त्याग। और भौतिक दर्शन का अर्थ है—विवेक विरोधी कर्म का त्याग। जो कर्म का क्षेत्र है वही भौतिक दर्शन है और भौतिक दर्शन कुछ नहीं है। उस भौतिक दर्शन का भी जीवन में वही स्थान है जो अध्यात्म दर्शन और आस्तिक दर्शन का है। और अध्यात्म दर्शन का भी जीवन में उतना ही आवश्यक स्थान है जितना कि भौतिक दर्शन का है। उसी प्रकार आस्तिक दर्शन का भी जीवन में उतना ही स्थान है।

आज हमसे भूल क्या होती है कि हम यह सोचने लगते हैं कि जो हमारी वर्तमान वस्तुस्थिति है, बस यही सत्य है। यह सत्य नहीं है। जब तक आप जगत की सत्ता स्वीकार करते हैं तब तक आप साधन का आरम्भ कर सकते हैं – भौतिक दर्शन के दृष्टि कोण से। और जब आप जगत की सत्ता अस्वीकार करते हैं तब आप साधन कर सकते हैं—अध्यात्म दर्शन के दृष्टि कोण से। जब आप प्रभु की सत्ता स्वीकार करते हैं तब आप साधन कर सकते हैं—आस्तिक दर्शन के दृष्टि कोण से। आज दशा क्या है ? कि सत्ता स्वीकार करते हैं जगत की, और प्राप्त करना चाहते हैं भगवान् को। जरा ध्यान दीजिये, जगत की सत्ता स्वीकार करके भगवान् को प्राप्त करना चाहते हैं ? नहीं कर सकते। होगा क्या ? भगवान् आयेंगे, लेकिन आप कहेंगे कि मेरी स्त्री बीमार है, अच्छी होजाय—आप यह कहोगे।

भगवान् को प्राप्त करना चाहते थे कि स्वस्थ स्त्री को देखना चाहते थे ? जरा सोचिये। इसलिये भाई, अपने दर्शन को आप देखो। लोग अभी से यह कहने लगे कि शरणानन्द का एक दर्शन है। शरणानन्द का वही दर्शन है जो सबका दर्शन है। क्यों, शरणानन्द का दर्शन क्या है ? अपने दर्शन में श्रद्धा कर लो, शरणानन्द का दर्शन आपने जान लिया। और आप शरणानन्द के दर्शन पर श्रद्धा करना चाहें और अपने दर्शन में अश्रद्धा करें तो आपने शरणानन्द के दर्शन को नहीं समझा। शरणानन्द का केवल दर्शन इतना ही है कि हर भाई, हर बहन अपने दर्शन पर अविचल श्रद्धा करे।

दर्शन कहते हैं ज्ञान को। और ज्ञान जो होता है वह विकल्प-रहित स्वीकृति का दाता होता है। अगर आपका दर्शन जगत की सत्ता स्वीकार करता है तो आप घबरायें नहीं, आपके मिथ्या कहने से जगत मिथ्या नहीं होजायेगा। आपके अनित्य कहने से जगत अनित्य नहीं होजायेगा। आप घबरायें नहीं। और इस बात का विरोध भी न करें कि कोई मिथ्या क्यों कहता है। भाई ! जिसके दर्शन में जगत मिथ्या है वह मिथ्या कहता है। जिसके दर्शन में जगत मिथ्या नहीं है वह क्यों उसे मिथ्या कहे ? कहे जगत मिथ्या और लड़े रोटी के लिये। हाय ! हाय !! हम तो ऋषीकेश में बैठ कर तप करते हैं, और रोते किस लिये हैं कि हमें रोटी कौन देगा ? ऋषीकेश में तो दिन-रात "ब्रह्म सत्य, जगत मिथ्या" की बात सुनाई जाती है। गंगा के किनारे क्या है ? ब्रह्म विद्या के सिवाय क्या है ? जरा ध्यान दीजिये।

कहने का मेरा तात्पर्य है कि आप अपने दर्शन पर अविचल श्रद्धा कीजिये। अगर आपको जगत मालूम होता है और जगत

की आपने सत्ता स्वीकार की है, तो इसका साधन क्या है? विबेक विरोधी कर्म का त्याग। अगर आपने जगत की सत्ता स्वीकार की है तो विवेक विरोधी कर्म का त्याग कर दीजिये। विवेक विरोधी कर्म का त्याग करते ही जितने दोष जीवन में हैं—कर्म सम्बन्धी, वे सब नाश होजायेंगे। क्यों? जब विवेक विरोधी कर्म का आप त्याग करेंगे तो किसी का बुरा नहीं चाहेंगे। जब किसी का बुरा नहीं चाहेंगे तो दु:खियों को देख कर करुणित होंगे, सुखियों को देख कर प्रसन्न होंगे। करुणित होने से सुख-भोग की रुचि नाश होगी और प्रसन्न रहने से काम का नाश होगा। जब काम का नाश होजायेगा तब आप अपने आध्यात्म दर्शन में प्रवेश पा जायेंगे। तब जगत की सत्ता स्वतः अस्वीकार होजायेगी। जब जगत की सत्ता अस्वीकार होजायेगी तब आपको अपने में ही अपने प्रेमास्पद की प्राप्ति होगी। यह क्या है? भौतिक दर्शन से आध्यात्म दर्शन में प्रवेश। जब आपको अपने में ही अपने प्रेमास्पद की प्राप्ति होगी, तब आपका अस्तित्व क्या होगा? केवल प्रेम। जब आपका अस्तित्व केवल प्रेम होगा तब आस्तिक दर्शन में प्रवेश होजायेगा।

साधन का आरम्भ चाहे भौतिक दर्शन के आधार पर हो, चाहे आध्यात्म दर्शन के आधार पर हो, चाहे आस्तिक दर्शन के आधार पर हो। अन्त में समस्त दर्शनों का जो फल है, वह आपको प्राप्त होजायेगा। अथवा यों कहो कि समस्त साधनों से जो सिद्धि प्राप्त होती है वह सिद्धि आपको प्राप्त होजायेगी। कब? जब आप अपने दर्शन के अनुसार अपने साधन का निर्माण करेंगे। साधन के निर्माण करने में हेतु क्या है? "सत्संग"। और कोई साधन में हेतु नहीं है। साधन के

निर्माण करने का साधन है—सत्संग। और सत्संग का स्वरूप क्या है ? अपने जाने हुए असत् का त्याग। यह हुआ सत् का का संग। सत् के संग से हुई साधन की अभिव्यक्ति और साधन की अभिव्यक्ति से हुई सिद्धि। इस दृष्टि से प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहिन को वर्तमान में ही सिद्धि मिल सकती है—ऐसा मेरा अनुभव है।

२०

जो परिस्थिति हमें प्राप्त है वह साधन-सामग्री है, जीवन नहीं है।

जिस दुःख का आना हम रोक नहीं सकते उसका भय और जिस सुख का जाना हम नहीं रोक सकते उसका प्रलोभन कोई अर्थ नहीं रखता।

सुख-दुःख से अतीत जो "है" उसमें हमारा प्रेम होजाय तो सुख-दुःख से सम्बन्ध टूट जायेगा। पराश्रय के त्याग से जीवन राग-रहित होता है।

जो महानता मानवता में है वह पद में नहीं है।

मानवता पद नहीं है, जीवन है।

मानव-जीवन निर्लोभता, निर्मोहता, और निरभिमानता में है।

जो आपको अप्राप्त है वही असत् है।

जिसकी आपको आवश्यकता है वही सत् है।

जो सभी को प्राप्त है उसी में प्रेम हो, उसी से योग हो, उसी का बोध हो—यह है मानव-जीवन।

सेवा का अर्थ है—अपना सुख बांटना, उसका फल है—निर्विकार जीवन।

काम-रहित, राग-रहित होने में ही समस्त विकास निहित है।

२०

(अ)

हमसे बड़ी भूल यह होती है कि हम परिस्थिति को ही जीवन मान लेते हैं। आप विचार करें, कोई भी परिस्थिति सर्वांश में दुःख से रहित नहीं हैं, अभाव से रहित नहीं है। तो फिर क्या अभाव जीवन है ? क्या दुःख जीवन है ? मानना पड़ेगा - नहीं। इसलिये प्रत्येक भाई और बहन को इस मंगलमय विधान पर अविचल श्रद्धा रखनी चाहिये कि जो परिस्थिति हमें प्राप्त है वह साधन-सामग्री है, जीवन नहीं है। आप कहेंगे कि भला, यह बात कोई दुःखी प्राणी मान सकेगा ? बात ठीक है, ऊपर से देखने में ऐसा ही मालूम होता है कि प्रतिकूलता किसी को भी अभीष्ट नहीं है, रुचिकर नहीं है; उसकी माँग नहीं है, उसमें प्रियता नहीं है। परन्तु क्या आप यह बता सकेंगे कि कोई भी परिस्थिति ऐसी है जो दुःख से रहित हो ? नहीं है। जब प्रत्येक परिस्थिति में दुःख है, अन्तर केवल इतना हुआ कि कहीं आप अधिक दुःख पाते हैं और कहीं कम दुःख पाते हैं। अथवा यों कहो कि कुछ लोग अधिक सुखी हैं तो कुछ लोग कम सुखी हैं। अथवा यों कहो कि परिस्थिति जीवन दुःखी के लिये नहीं है तो किसी के लिये भी नहीं है। यदि दुःखी इस बात को स्वीकार करले कि परिस्थिति जीवन नहीं है तो उसके जीवन में से दुःख का भय निकल सकता है। और यदि सुखी इस बात को स्वीकार करले कि परिस्थिति जीवन नहीं है तो उसके जीवन में से सुख की दासता निकल सकती है।

दुःख का भय और सुख का प्रलोभन किसके जीवन में नहीं है ? उसी के जीवन में नहीं है जिसने परिस्थिति में से जीवन-बुद्धि हटा ली है। आप विचार करें कि जिस परिस्थिति का आप आवाहन करते हैं और यह सोचते हैं कि यदि अमुक वस्तु हमको मिल जाती अथवा अमुक अवस्था हमको मिल जाती अथवा अमुक पद हमको मिल जाता अथवा अमुक व्यक्ति हमको मिल जाता तो बड़ा ही आनन्द होता। लेकिन, सोचिये तो सही, वही वस्तु, वही अवस्था वही पद जिसे प्राप्त है, क्या उसके जीवन में दुःख नहीं है ? यदि उसके जीवन में दुःख है तो भला बताइये, आपका दुःख कैसे मिट सकता था ? नहीं मिट सकता था। परन्तु सुख न रहने पर भी सुख का जो प्रलोभन इतना बढ़ जाता है जीवन में कि यह जानते हैं, स्वयं जानते हैं, सन्देह नहीं है इस बात में कि सुख चला गया। नहीं चाहते थे कि जाय किन्तु चला गया, फिर भी उसका प्रलोभन। नहीं चाहते हैं कि दुःख आये, फिर भी आगया, फिर उसका भय। जिसे हम रोक नहीं सकते उसका भय और जिसका हम जाना भी नहीं रोक सकते उसका प्रलोभन, बताइये, क्या अर्थ रखता है ? कुछ अर्थ नहीं रखता। ऐसी दशा में प्रत्येक भाई अथवा बहन आये हुए सुख और दुःख का सदुपयोग करने लगे तो सच मानिये, हम सुख और दुःख से ऊपर जो जीवन है अर्थात् सुख-दुःख से अतीत जो जीवन है उसमें हमारा और आपका प्रवेश हो सकता है।

एक बात बड़ी ही गम्भीरता से ध्यान देने की है। सुख-दुःख आता-जाता है किन्तु जो सुख-दुःख से अतीत जीवन है वह आता-जाता नहीं है। वह है। आज कितने आश्चर्य की बात

है कि जो है उसी में प्रेम नहीं। और जो आता-जाता है उसी की दासता और उसी का भय। कितने आश्चर्य की बात है! जरा सोचिये, सुख-दु:ख से अतीत जो जीवन है यदि हमारा-आपका उसमें प्रेम हो जाय तो यह नियम है कि जब किसी में प्रेम हो जाता है तब उससे भिन्न जो कुछ होता है उससे सम्बन्ध नहीं रहता। यह प्रेम की पहचान है। जब आपका किसी से प्रेम हो जायेगा तो उस प्रेमास्पद से भिन्न जो कुछ भी होगा उससे आपका सम्बन्ध नहीं रहेगा। अर्थात् सुख-दु:ख से अतीत जो है उसमें यदि हमारा प्रेम हो जाय तो फिर सुख और दु:ख से सम्बन्ध नहीं रहेगा। जब सुख-दु:ख से सम्बन्ध नहीं रहेगा तो एक नियम है और वह नियम यह है कि जिससे हमारा सम्बन्ध नहीं रहता उसका हम पर शासन नहीं रहता और उसकी हमारे जीवन में कामना नहीं रहती।

सम्बन्ध विच्छेद से दो बड़े लाभ होते हैं, एक तो लाभ होता है कि जिससे हम सम्बन्ध विच्छेद करते हैं उसके शासन से मुक्त हो जाते हैं और उसकी कामना नाश हो जाती है। कामना नाश होने से क्या होता है? और शासन से मुक्त होने से क्या होता है? कि शासन से मुक्त होने पर तो स्वाधीनता आती है और कामना नाश होने से सामर्थ्य आती है। वह सामर्थ्य आती है जो हम सबको निःसन्देहता देने में समर्थ है, जो हम सबको अमरत्व प्रदान करने में समर्थ है। वह सामर्थ्य आती है, कामना के नाश होने से और स्वाधीनता से। क्या होता है? आप विचार कीजिये, स्वाधीनता क्या है? 'स्व' माने 'अपना', अपने की आधीनता, अथवा पराधीनता का अभाव। पराधीनता का अभाव होने से क्या होगा? कि जिससे लेशमात्र भी भिन्नता नहीं है, भेद नहीं है, दूरी नहीं है, उसके हम आधीन हो जाते हैं। उसका हमें आश्रय मिल जाता है। उसी आश्रय का नाम

किसी दर्शनकार ने अन्तरात्मा कहा। उसी आश्रय का नाम किसी-किसी ने नित्य योग कहा और किसी-किसी ने प्रभु का आश्रय कहा। किसी-किसी ने निराश्रय जीवन कहा। ये जो निराश्रयता है न ! बड़ी विचित्र चीज है। ऐसी विचित्र चीज है कि जो प्राणी बाह्य वस्तुओं से निराश्रय हो जाता है यानी वस्तुओं का आश्रय जिसके जीवन में नहीं रहता, व्यक्तियों का आश्रय जिसके जीवन में नहीं रहता, अवस्था का आश्रय जिसके जीवन में नहीं रहता, उसके जीवन में किसी प्रकार के विकार की उत्पत्ति नहीं होती। उसी का नाम है राग-रहित होना।

राग-रहित होना कोई अभ्यास नहीं है। जरा ध्यान दीजिये, राग-रहित होना है–पराश्रय का त्याग। "पर" माने जो अपने से भिन्न हो, जिसमें आप किसी न किसी प्रकार से भेद कर सकते हों, जिसकी आपसे दूरी रह सकती हो, उसके आश्रय का जो त्याग है उसी का नाम है—राग-रहित होना। इस राग-रहित होने से किसी वस्तु का विनाश नहीं होता। तो होता क्या है कि वस्तु की दासता नहीं रहती। जब वस्तु की दासता नहीं रहती तो वस्तु के सदुपयोग में किसी प्रकार की असुविधा नहीं होती, कठिनाई नहीं होती।

आज की दशा क्या है ? आज यह दशा है कि जो वस्तु प्राप्त है, क्या हम ईमानदारी से उसका सदुपयोग कर पाते हैं ? जो सामर्थ्य प्राप्त है, जो योग्यता प्राप्त है, जो पद प्राप्त है, हम उसका ठीक-ठीक उपयोग नहीं कर पाते। उसका परिणाम क्या होता है कि प्राप्त का सदुपयोग न करने से समाज में तो आदर नहीं रहता। यह बड़ा भारी सत्य है। आज बहुत से लोग

सोचते हैं कि हाय-हाय रे ! हमें प्यार नहीं मिलता, आदर नहीं मिलता। भाई, क्यों नहीं मिलता ? बहुत से भाई-बहन तो सोचते हैं कि हमारा भाग्य ही ऐसा है कि हमको कभी आदर मिलता नहीं, हमको कभी प्यार मिलता नहीं। पर, बात वास्तव में ऐसी नहीं है। आदर और प्यार तो हमको इसलिये नहीं मिलता कि हम मिले हुए का सदुपयोग नहीं करते। आप कहें कि हमें तो कुछ प्राप्त नहीं है, प्राप्ति के नाम पर तो केवल शरीर ही प्राप्त है। तब भी कोई चिन्ता की बात नहीं। क्या हमने बोलने की शक्ति का ईमानदारी से सदुपयोग किया ? यदि ईमानदारी से सदुपयोग किया होता तो दो बातें हो जातीं— सुनने वाले के अधिकार की रक्षा हो जाती और बोलने का राग मिट जाता—राग। अच्छा आप सोचिये कि सुनने वाले के अधिकार की रक्षा से क्या होता कि श्रोता और वक्ता के बीच में एकता हो जाती।

ऐसे ही यदि हमने धन का सदुपयोग किया होता तो धनी और निर्धन के बीच में एकता होजाती। ऐसे ही यदि हमने योग्यता का सदुपयोग किया होता तो योग्य और अयोग्य के बीच में एकता होजाती। ऐसे ही यदि हमने बल का सदुपयोग किया होता तो सबल और निर्बल के बीच में एकता होजाती। और दूसरी बात क्या होती ? दूसरी बात यह होती कि हम बल के राग से, धन के राग से, बोलने के राग से, सुनने के राग से, समझने के राग से, सोचने के राग से रहित हो जाते। आप जानते हैं, राग-रहित होते ही क्या मिलता है ? राग-रहित होते ही विश्राम मिलता है। और जब व्यक्ति और समाज के बीच एकता हो जाती है तब क्या मिलता है ? तब सुन्दर

समाज का निर्माण होता है। क्या यह आज मानव समाज की आवश्यकता नहीं है? क्या आज मानव समाज को सुन्दर समाज की आवश्यकता नहीं है? आप कहेंगे—है। यदि न होती तो आप जानते हैं, सुन्दर समाज के निर्माण के लिये ही राष्ट्र की कल्पना हुई। चाहे वह राष्ट्र रानी के पेट से राजा निकाले और चाहे वह राष्ट्र जनता के पेट से प्राइम मिनिस्टर को निकाले। बात एक ही है। राष्ट्र की आवश्यकता हुई। राजा भी एक ही होता है। प्राइम मिनिस्टर भी एक ही होता है। राजा को भी कुछ लोगों का सहयोग प्राप्त करना पड़ता है और प्राइम मिनिस्टर को भी कुछ लोगों का सहयोग प्राप्त करना होता है। पर होता एक ही है। दो नहीं होते।

यह बड़ी सुन्दर बात है कि एक देश में दो राजा नहीं रह सकते। और एक कम्बल पर दस सन्त रह सकते हैं। तात्पर्य क्या? एक कमरे में अनेक मानव रह सकते हैं और एक देश में दो राजा नहीं रह सकते, महाराज! इससे क्या सिद्ध हुआ? इससे यह सिद्ध हुआ कि जो महानता मानव में है वह पद में नहीं है। जरा ध्यान दीजिये, राज्य एक पद है, मानवता पद नहीं है, जीवन है। तो इस बात पर विचार करते हुए हमें और आपको इस बात को सोचना चाहिये कि अगर परस्पर में एकता हो जाय—चाहे धनी और निर्धन के बीच की बात हो, चाहे सबल और निर्बल के बीच की बात हो, चाहे दो देशों के बीच की बात हो, चाहे दो वर्गों के बीच की बात हो और चाहे दो सम्बन्धियों के बीच की बात हो, दो व्यक्तियों के बीच की बात हो, भाई-बहनों के बीच की बात हो; लेकिन वह जो एकता होगी, उस एकता में जो विकास है, वह बिना एकता के हो ही नहीं सकता। लोग सोचते हैं कि हम एकता प्राप्त कर लेंगे

तो लड़ाई का सामान इकट्ठा कर लेंगे। कुछ लोग सोचते हैं कि हम एकता प्राप्त कर लेंगे तो बहु संख्या के आधार पर अपनी पार्टी सबल बना लेंगे। नहीं हो सकती, कभी नहीं हो सकती। क्यों नहीं हो सकती? एकता में बाधक क्या है? मिले हुए का दुरुपयोग, जो हमें और आपको मिला है।

मैं आपसे पूछता हूं, कल्पना करो—हम और आप दो साथी हैं, क्या आप मुझसे वह चीज मांगेंगे जो मेरे पास नहीं है? कभी आप मांग सकते हैं? कदापि नहीं मांग सकते। आप वही मांग सकते हैं जो हमारे पास है। जो हमारे पास है वह किसके काम आती है, कि जिसके पास नहीं है। जरा ध्यान दीजिये, चाहे पति-पत्नी के बीच की बात हो, चाहे दो सहोदर बन्धुओं के बीच की बात हो, चाहे दो पड़ोसियों की बात हो, चाहे दो वर्गों के बीच की बात हो—जिसके पास जो वस्तु नहीं है, नहीं वाले के काम आती है वह वस्तु, जो किसी के पास है। इससे क्या सिद्ध हुआ? कि आपके पास जो नहीं है वह दूसरों से मिलेगा। लेकिन जो आपके पास है, उसे आप दूसरों को देना चाहते हैं? अगर देना चाहते हैं तो सच मानिये कि जो आपके पास नहीं है वह दूसरों के द्वारा आपको सचमुच मिल जाता। किन्तु आपकी दशा क्या है? मजदूर चाहता है कि काम कम करना पड़े और मिल अधिक जाय। मिल-औनर भी यही चाहता है कि कम देना पड़े और काम अधिक हो जाय। ध्यान दीजिये—जो चीज आपके पास नहीं है वह तो आपको दूसरों से ही लेनी पड़ेगी। और जो चीज आपके पास है वह दूसरों को ही देनी पड़ेगी। तो आप स्वाधीन किसमें हैं? स्वाधीन इस बात में नहीं हैं कि जो दूसरों के पास है वह आपको

मिल जाय। स्वाधीन आप इसमें हैं कि जो आपके पास है वह दूसरों को दे सकें और प्रसन्नता पूर्वक दे सकें, बिना किसी बदले की आशा के दे सकें। इसका नाम क्या है ? इसी का नाम है—कर्त्तव्य विज्ञान। यह विज्ञान है।

इस विज्ञान का फल मालूम है, क्या है ? कि जिसके जीवन में कर्त्तव्य परायणता होती है वह अधिकार लालसा से रहित भी हो जाता है और उसका अधिकार पूरा भी हो जाता है, दोनों बातें हो जाती हैं। किन्तु आज हमारी दशा क्या है ? जो मिला हुआ है उसका सदुपयोग नहीं करेंगे। और जो प्राप्त नहीं है, बोले—उसकी कामना रखेंगे। सदुपयोग नहीं करेंगे तब क्या होगा ? उसका संग्रह हो जायेगा। जब संग्रह हो जायेगा तब क्या होगा ? उसमें ममता हो जायेगी। जब ममता हो जायेगी तब क्या होगा ? हमारे जीवन में जड़ता आ जायेगी। जड़ता की सबसे बड़ी पहचान मालूम है, क्या है ? जड़ता की सबसे बड़ी पहचान है—जो व्यक्ति शरीर के आधार पर अपना महत्त्व आंकता है, योग्यता के आधार पर अपना महत्त्व आंकता है, वस्तुओं के आधार पर अपना महत्व आंकता है, उसके समान दूसरा जड़ हो ही नहीं सकता।

आप सोचिये, उस शरीर के आधार पर हमारा महत्त्व होगा ? जो मलमूत्र की थैली है और जो क्षण-भंगुर है। उस योग्यता पर हमारा महत्त्व अंकित होगा ? जिसका गहरी नींद में पता ही नहीं चलता है कि कहाँ गई। जरा सोचिये, यह जड़ता आज हमारे जीवन में है कि नहीं, कि हमारा महत्त्व कब होता है, कि जब हमारे पास कोई सामान होता है। इस महत्त्व के आधार पर ही, महाराज ! चाहे दो देशों का संघर्ष हो, चाहे

दो व्यक्तियों का संघर्ष हो। समस्त संघर्षों के मूल में यही जड़ता है। क्या ? कि आप अपना मूल्यांकन करते हैं, आप अपना महत्व मानते हैं सामान के आधार पर और जो सामान स्वभाव से ही नाश हो रहा है, मिट रहा है, बदल रहा है। इसका अर्थ कोई यह न समझ बैठे कि मैं आपसे यह कह रहा हूँ कि मिले हुए का सदुपयोग मत करें। मिले हुए का सदुपयोग कीजिये, पर जड़ता से रहित होकर कीजिये, चेतना को अपना कर कीजिये। जब आप चेतना को अपनाकर मिले हुए का सदुपयोग करेंगे तब निर्लोभ होकर वस्तु का उपयोग करेंगे, निर्मोह होकर व्यक्ति की सेवा करेंगे, और निरभिमान होकर परिस्थिति का उपयोग करेंगे।

आज अगर हमारे जीवन में निरभिमानता आजाय तो दुःखमय परिस्थिति कोई हानि नहीं पहुंचा सकती, हमें दीन नहीं बना सकती। और सुखमय परिस्थिति कोई हानि नहीं पहुँचा सकती, हमें अभिमान की अग्नि में नहीं जला सकती। किन्तु दुःख की बात तो यह है कि हम परिस्थिति का उपयोग करते हैं अभिमान पूर्वक। हाय ! हाय !! क्या बतायें, हम तो अन्धे होगये, बड़े अभागे हैं। यह अभिमान—हमारे पास क्या नहीं है ? सब कुछ है—यह अभिमान। इस अभिमान के रहते हुए आप परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर सकते। मोह के रहते हुए आप अपने साथियों की सेवा नहीं कर सकते। लोभ के रहते हुए आप मिली हुई वस्तु का सदुपयोग नहीं कर सकते। मानव जीवन क्या है ? मानव जीवन निर्मोहता, निर्लोभता, निरभिमानता में है कि वस्तुओं के संग्रह में है ? आपको मानना ही पड़ेगा कि मानव में जो मानवता है वह निर्विकार जीवन के कारण है। अगर निर्विकारता हमारे और आपके पास नहीं है तो मानव में मानवता कुछ नहीं रह जाती।

इसलिये भाई ! बड़े ही धीरज के साथ हमें और आपको इस मौलिक प्रश्न पर विचार करना होगा कि क्या हम मिले हुए का सदुपयोग करते हैं ? सच मानिये, यदि आज हम और आप मिले हुए का सदुपयोग करने लगें, किसके साथ ? कि जिसके साथ रहते हैं, तो राष्ट्र की बिल्कुल आवश्यकता न रह जाय। और भाई ! इतना ही नहीं, अगर हम और आप ज़रा गम्भीरता से सोचें कि अपने अन्तर की जो चीजें हैं उनका यदि ठीक उपयोग करने लगें तो सच पूछिये, गुरू की भी कोई आवश्यकता न रह जाय। आज जो हमें-आपको अपने जीवन में गुरू की आवश्यकता मालूम होती है अथवा यों कहो कि मज़हब की आवश्यकता जो मालूम होती है और राष्ट्र की आवश्यकता मालूम होती है उसका एक-मात्र कारण यह है कि जो गुरू आपको प्राप्त है उस गुरू का तो आप अनादर करते हैं और जो अप्राप्त है, उसकी खोज करते हैं। जो वस्तु प्राप्त है, उसका तो आप दुरुपयोग करते हैं और जो अप्राप्त है उसकी कामना करते हैं। जब तक हम यह करते रहेंगे तब तक चाहे कितना ही तो सामान हमारे पास आजाय और चाहे कितनी बड़ी-बड़ी डिग्रियाँ हम प्राप्त करलें और चाहे कोई हमें पद मिल जाय, हम मानव जीवन के महत्व को नहीं जान सकते। और जब तक मानव जीवन के महत्व को ही नहीं जान सकते तब तक मानवता प्राप्त ही कैसे कर सकते हैं !

इसलिये भाई ! आज की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि जो मिला है उसका हम दुरुपयोग नहीं करेंगे और जो प्राप्त नहीं है उसकी कामना नहीं करेंगे। आप कहेंगे कि हमको तो आज सत्य भी प्राप्त नहीं है। ऐसी बात नहीं है। सत्य तो सभी को प्राप्त है;

किन्तु असत्य की कामना सत्य से अभिन्न नहीं होने देती, सत्य का योग नहीं होने देती, सत्य में प्रेम नहीं होने देती— असत्य की कामना। असत्य क्या है ? जो आज अप्राप्त है वही असत्य है। अथवा जिसकी कामना आप कर सकते हैं, जिसकी आप में desire होसकती है। जिसकी आवश्यकता है वह असत् नहीं है। वह सत् है। जिसकी कामना है वह असत् है। कामना किसकी होती है ? वस्तु की, व्यक्ति की, अवस्था की, परिस्थिति की कामना होती है। आवश्यकता किसकी होती है ? जो वस्तु, अवस्था, परिस्थिति से अतीत दिव्य, चिन्मय जीवन है। नित्य जीवन है उसकी आवश्यकता होती है। तो जिसकी आवश्यकता होती है वह सदैव अविनाशी होता है। उससे देश-काल की दूरी नहीं रहती। और जिससे देश-काल की दूरी नहीं रहती वह सर्वत्र, सर्वदा, सभी को प्राप्त है। जो सभी को प्राप्त है उसी में प्रेम हो, उसी से योग हो, उसी का बोध हो। यह है मानव जीवन।

तो भाई ! जो "है" उसका प्रेम "है" को रस देता है। जो "है" उसका योग शान्ति और सामर्थ्य प्रदान करता है। और जो "है" उसका बोध अमरत्व देता है। इस दृष्टि से मानव-जीवन का महत्व किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति पर निर्भर नहीं है। किस पर निर्भर है ? साधन-युक्त जीवन पर। और साधन-युक्त जीवन का पहला सिद्धान्त क्या है ? मिले हुए का सदुपयोग। आज से हम और आप इस बात पर विचार करें कि जो कुछ मिला है उसका हम दुरुपयोग नहीं करेंगे। अगर आपको सदुपयोग करने का ज्ञान नहीं है अथवा आप सदुपयोग नहीं कर सकते हैं तो कम-से-कम दुरुपयोग नहीं करेंगे। यहाँ से साधन आरम्भ कर दीजिये। उदाहरण लीजिये,

यदि कोई भाई कहे कि हमारे लिए प्रिय बोलना बड़ा कठिन होगया, सत्य बोलना बड़ा कठिन होगया, दूसरे के साथ सहायता करना बड़ा कठिन होगया। यदि कोई ऐसा कहे तो हम उससे कहेंगे कि कोई बात नहीं, लेकिन कृपा करके आप असत्य मत बोलिये, कठोर मत बोलिये और दूसरे को हानि मत पहुँचाइये। कोई कहे कि क्या बतायें, हमारे मन में शुद्ध संकल्प नहीं होते। तो कृपा करके अशुद्ध संकल्प मत कीजिये।

तो जब आप मिले हुए का दुरुपयोग नहीं करेंगे तब कुछ काल के बाद अपने आप मिले हुए का सदुपयोग होने लगेगा। यह बड़े ही महत्व की बात है कि असाधन के त्याग से साधन होने लगता है। और जब साधन होने लगता है तब हम यह साधन नहीं कर सकते- यह प्रश्न ही नहीं रहता। क्यों? साधन सच पूछिये तो कहते ही उसको हैं जो स्वतः होने लगे। और उसके होने का उपाय क्या है? कि अपने जाने हुए असाधन का त्याग। तो जीवन का पहला पुरुषार्थ हुआ—अपने जाने हुए असाधन का त्याग। आप कहेंगे कि हमारे जीवन का तो बहुत बड़ा भाग असाधन में चला गया, अब हम उसका त्याग क्या करें! त्याग का अर्थ है कि जो असाधन हम कर चुके हैं, उसको न करने की रुचि केवल। आप कहें कि अगर कहीं अक्समात हम कर डालें तो? कोई चिन्ता की बात नहीं है। न करने की रुचि होने पर जो कुछ कर डालता है, प्राणी उसके करने से दुःखी होता है, व्यथित होता है, वेदना होती है। यह बड़ा भारी सत्य है।

२०

(ब)

और हमारे आपके जीवन में सभी को ही इस बात की अनुभूति हुई होगी कि जिसके करने की रुचि न हो और अक्समात किसी प्रकार हम उसे कर डालें, चाहे अपनी निर्बलता से अथवा किसी प्रलोभन से अथवा किसी भय से, जिसकी करने की रुचि नहीं है उसको अगर कर भी डालें; तो न तो करने से सुख मिलता है; और करने के पश्चात् बहुत बड़ी व्यथा होती है, बहुत बड़ी पीड़ा होती है। यह नियम है कि जिसके होने से हम व्यथित होते हैं, दुःखी होते हैं, पीड़ित होते हैं, उसका होना बन्द होजाता है; और जिसके न होने से दुःखी होते हैं, वह होने लगता है। इससे क्या सिद्ध हुआ कि विकास में हेतु एक-मात्र दुःख है। दुःख क्या कम है आज ! लोग कहते हैं, क्या बतायें, संसार में बड़ा दुःख है। हम कहते हैं, भैया ! अगर सचमुच दुःख होता हमारे जीवन में, तो हमारा विकास अवश्य होजाता। जब-जब दुःख हुआ तब-तब विकास हुआ।

इसलिये भाई ! जरा विचार तो करो। यदि हम अपने जाने हुए असाधन का त्याग कर सकते हैं अर्थात् उसे नहीं दोहराते हैं, तो क्या होता है कि अपने आप साधन होने लगता है। और जब अपने आप साधन होने लगता है, तब करने का अभिमान नहीं होता। जब करने का अभिमान नहीं होता, तब

फल की आशा नहीं होती। और जब फल की आशा नहीं होती, तब अपने आप होने वाले साधन में निष्कामता आजाती है। चाहे वह साधन कर्मयोग के आधार पर हो यानी सेवा के रूप में हो, अथवा त्याग के रूप में हो, अथवा प्रेम के रूप में हो। जितने साधन हैं, आप गम्भीरता से विचार करें, तीन भागों में बंट जाते हैं। जब हम मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा किसी की सेवा करते हैं, तब उसी का नाम सेवा होजाता है, अथवा जब हम किसी वस्तु की वास्तविकता जानकर उससे ममता तोड़ते हैं, तब उसका नाम त्याग होजाता है, अथवा जब हम किसी में अविचल श्रद्धा करके उससे नित्य सम्बन्ध अथवा उसकी प्रियता स्वीकार करते हैं, तब उसका नाम प्रेम होजाता है।

तो क्या कोई भी भाई, कोई भी बहन मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता द्वारा सेवा करने में पराधीन है! कदापि नहीं। क्या कोई भी भाई, कोई भी बहन अपने से दुःखियों को देखकर करुणित होने में पराधीन है? क्या कोई भी भाई, कोई भी बहन अपने से सुखियों को देखकर प्रसन्न होने में पराधीन है? कदापि नहीं। सेवा करने में कोई भी भाई कभी भी पराधीन नहीं है। सेवा का अर्थ यह नहीं है, सरकार! कि आप दुःखी का दुःख मिटा सकें। सेवा का अर्थ है—अपना सुख बांट सकें और पराये दुःख से दुःखी और पराये सुख से प्रसन्न होसकें। इतनी-सी बात है जिसे हम और आप सेवा के नाम से कहते हैं। लेकिन आप जानते हैं, इसका फल क्या है? इसका फल बहुत बड़ा है। सेवा का फल क्या है? सेवा का फल है—निर्विकार जीवन, निष्काम जीवन अपने आप। निर्विकार जीवन में क्या नही होता है! सब कुछ होने लगता है।

निर्विकारता की भूमि में ही तो योग का वृक्ष लगता है। निर्विकारता की भूमि में ही तो तत्व ज्ञान होता है। निर्विकारता की भूमि में ही तो परम प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। तो भाई, वह जो निर्विकार जीवन है वह प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहन को प्राप्त होसकता है। क्यों ? निर्विकार जीवन की प्राप्ति वर्तमान की वस्तु है।

भाई ! मानव सेवा संघ के सिद्धान्त के अनुसार तो मानव-मात्र निर्दोष है। लेकिन उस निर्दोषता का भास क्यों नहीं होता ? उस निर्दोषता की अभिव्यक्ति शरीर में, इन्द्रियों में, प्राणों में, मन में, बुद्धि में क्यों नहीं प्रतीत होती ? केवल इसलिये नहीं प्रतीत होती कि हम निर्दोषता की स्थापना करके निश्चिन्त नहीं होते, निर्भय नहीं होते। जब तक आप निश्चिन्त नहीं हो सकते, जब तक आप निर्भय नहीं होसकते, तब तक जिसकी आप स्थापना करेंगे उसकी अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती। कहने का मेरा तात्पर्य था कि प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन का वर्तमान सर्वदा सर्वांश में निर्दोष है। और भाई ! सर्वांश में दोषी तो कभी कोई हुआ ही नहीं, होसकता नहीं। तो जो बात हुई नहीं, होसकती नहीं, और हम मान लेते हैं कि हाय ! हाय !! रे, हम तो बड़े रागी हैं। अरे भाई ! ऐसा कहो कि हमारे जीवन में भी राग रहा था और उसका परिणाम हमने दुःख भोगा था, अशान्ति भोगी थी। अब हमको जब मालूम होगया कि राग उत्पन्न हुआ था और उसके न दुहराने से वह नाश होसकता है। तो मैं सच कहता हूँ कि यदि आज प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन दृढ़तापूर्वक इस बात को स्वीकार करे कि 'मैं वीतराग हूँ', तो आप वीतराग होसकते हैं। इसमें लेश-मात्र भी सन्देह नहीं है।

लेकिन निर्धन होने पर धन का चिन्तन कर सकते हैं, निर्बल होने पर बल का चिन्तन कर सकते हैं, रोगी होने पर स्वस्थ शरीर का चिन्तन कर सकते हैं। यानी जो नहीं होसकता है उसका चिन्तन करने में आप समर्थ हैं! और जो होसकता है उसके करने में आज असमर्थ पाते हैं! क्या यही मानव जीवन है? क्या यही आप अपने विवेक का आदर करते हैं? ज़रा सोचिये, गम्भीरता पूर्वक विचार कीजिये कि हर एक भाई, हर एक बहन वीतराग वर्तमान में है। वीतराग होते हो योग, ज्ञान तथा प्रेम की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। अब आप बताइये कि साधन में कहाँ असमर्थता है? साधन में कहाँ कठिनाई है? कठिनाई वहीं है जहाँ हम साधन-जनित सुख का भोग तो करना चाहते हैं और साधन नहीं करना चाहते। वीतराग होने से क्या होता है महाराज? किसी ने कह दिया—यह होता है, यह होता है। तो इसे तो हम चाहते हैं, लेकिन वीत-राग होने के लिये जो अपने में राग-रहित होने की स्थापना करना है उससे बचाते हैं। प्रेम-जनित रस तो चाहते हैं, लेकिन प्रेम प्राप्ति के लिये जो प्रभु में आत्मीयता करना है उसमें विकल्प करते हैं।

ज़रा ध्यान दीजिये, कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि यह मानव जीवन का महत्व है कि प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन वर्तमान में ही राग-रहित होकर योगवित् होसकते हैं। योगवित् होकर तत्ववित् होसकते हैं। तत्ववित् होकर परम प्रेम को प्राप्त कर सकते हैं। इसमें लेश-मात्र भी सन्देह की बात नहीं है। तो मिले हुये के सदुपयोग के द्वारा हम सबको करने के राग से रहित होना है और सुन्दर समाज का निर्माण होजाना है। आपको करना नहीं है। राग-रहित भी होना है और सुन्दर समाज का निर्माण भी होजाना है। करना क्या है? कि मिले

हुये का सदुपयोग। आप कहेंगे कि मिले हुए का सदुपयोग क्या होता है? कि आपके पास जो है वह उसकी सेवा में लगादो, जिसके पास नहीं है। यह बात कौन भाई नहीं जानता? कौन बहन नहीं जानती? इसमें क्या कठिनाई है? कठिनाई केवल यह है कि आप उसको अपना नहीं मानते। यही कठिनाई है। आप अपना नहीं मानते- यह भी आपका ज्ञान नहीं है, यह आपका विवेक विरोधी विश्वास है।

मैं आपसे पूछता हूँ—जिस शरीर को अपना शरीर कहते हैं, आप ध्यान दीजिये, वह शरीर जन्म से पहले क्या था? आपको मानना पड़ेगा—माता का रज और पिता का वीर्य। वह रज-वीर्य कहाँ से उत्पन्न हुआ? पृथ्वी से, जल से, वायु से, आकाश से इत्यादि। अच्छा, अब आप सोचिये कि आपका शरीर किसका हुआ? क्या उसी माँ का हुआ, जिसका आपने दूध पिया था? इस बात से कोई भाई यह न समझ बैठे कि उस माँ का नहीं हुआ। अगर आप असली माँ को तलाश करेंगे तो यह जो सारी सृष्टि जिसे आप कह सकते हैं, उस माँ का आपका शरीर हुआ। जब उस माँ का आपका शरीर हुआ, तो आप जानते हैं? सहोदर जो होते हैं, वे भाई-बहन होते हैं या भाई-भाई होते हैं। जब सब भाई-बहन हुये, भाई-भाई हुये तब आप कैसे कह सकते हैं कि कोई ऐसा भी होसकता है जो आपका नहीं है? आप नहीं कह सकते कि कोई ऐसा भी हैं जो आपका नहीं है। इतना ही नहीं, ज़रा और ध्यान दीजिये, कि जिसे आप अपने से सुखी पाते हैं, उससे सम्बन्ध जोड़ने के लिये बड़े लालाइत रहते हैं, महाराज!

हमने देखा है कि जब हम बड़े आफीसर के यहाँ ठहरते हैं तो हमारे यहाँ फौन आते हैं, फौन! सेठ लोगों के। इसलिये

नहीं कि वे बड़े भारी हमारे भक्त हैं। इसलिये कि महाराज जी ! आपके पास जस्टिस साहब कब बैठते हैं ? वे यह सोचते हैं कि हम उसी समय पहुँचें जब स्वामीजी के पास जस्टिस साहब बैठे हों ताकि उनके सहारे से हमारी पहचान होजाय। ज़रा सोचो ! जिस उदारता से, जिस हृदयशीलता से, जिस तत्परता से आप अपने से सुखियों के साथ मिलना चाहते हैं, क्या उसी उदारता से, क्या उसी तत्परता से, क्या उसी हृदयशीलता से आप अपने से दुःखियों से भी मिलना चाहते हैं ? जब यह प्रश्न सामने आता है तब जनाब ! अपने में कुछ का कुछ दिखता है। तो भाई मेरे ! जब हम और आप यह जानते ही हैं कि जो कोई हमसे सुखी हो, वह हमारा होजाय। मैं आपसे पूछता हूँ कि जो आपसे दुःखी है, क्या वह नहीं चाहता कि आप उसके हो जायँ ? तो अपने लिये और कानून और दूसरों के लिये और कानून ? अपने को दूसरे पैमाने से नापना और दूसरों को दूसरे पैमाने से नापना ? यह मानवता नहीं है। यह प्रमाद है। यह भूल है। इसलिये भाई ! सभी आपके होसकते हैं। अगर आप ऐसा नहीं मानते हैं तो एक और सत्य है। वह सत्य यह है कि यदि सभी आपके नहीं होसकते तो कोई आपका नहीं होसकता।

जब कोई भी आपका नहीं होसकता, तब कोई वस्तु भी आपकी नहीं होसकती। जब कोई वस्तु भी आपकी नहीं हो सकती, तब आपका क्या अधिकार रह जाता है उससे ममता करने का ? उस पर अधिकार करने का ? उसका दुरुपयोग करने का ? कोई अधिकार नहीं रह सकता। अगर आप बहुत बड़े विवेकी बनते हैं तो सच मानिये, कि आप अपने शरीर को भी अपना नहीं कह सकते। जब शरीर को भी अपना नहीं

कह सकते, मन को भी नहीं कह सकते, बुद्धि को भी नहीं कह सकते, तब भी काम बन सकता है। जब सभी को अपना कह सकते हैं, तब भी काम बन सकता है।

इसीलिये साधन-निर्माण के लिये दो बातों की बड़ी आवश्यकता है—या तो मिले हुये का सदुपयोग करो, या जाने हुए का आदर करो। मिले हुये के सदुपयोग से भी सुख दु:खियों का हो जाता है और फिर सुखी सुख की दासता से मुक्त हो जाता है। और जाने हुये का आदर करने से भी हम सुख-दु:ख से असंग हो जाते हैं। कितनी सुन्दर बात है! कितनी महत्त्वपूर्ण बात है! कि चाहे हमारी परिस्थिति सुखमय हो अथवा दु:खमय हो, सुख के सदुपयोग का जो फल है, दु:ख के सदुपयोग का भी वही फल है। तो फिर बताइये, हम और आप कैसे कह सकते हैं कि हम और आप वीतराग नहीं हो सकते, हम और आप योगवित् नहीं हो सकते, तत्त्ववित् नहीं हो सकते, हम और आप प्रेम को नहीं प्राप्त कर सकते? यह कहना ही मानव जीवन की घोर निन्दा है, घोर निन्दा है। जो मानव होकर यह विश्वास करता है कि हम कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं हो सकते, वह मानव जीवन की सबसे बड़ी निन्दा करता है। और जो मानव होकर यह कहता है कि हम अपने को इतना सुन्दर नहीं बना सकते कि हमें राष्ट्र की आवश्यकता न हो, हमें मजहब की आवश्यकता न हो, तो वह मानव की सबसे बड़ी निन्दा है। इसलिये भाई मेरे! आज हमारे और आपके सामने जो मौलिक प्रश्न है वह है मानव जीवन के महत्त्व का। वस्तुओं के महत्त्व ने हमें लोभी बनाया। व्यक्तियों के महत्त्व ने हमें मोही बनाया। अवस्थाओं के महत्त्व ने हमें परिच्छिन्न बनाया। इसलिये भाई, अब हम थक गये, विकारयुक्त जीवन रख नहीं सकते, रख नहीं सकते।

उसी के लिये आपके नगर में निर्माण निकेतन आश्रम बना। वह इसलिये नहीं बना कि शरणानन्द कहीं से आकर यहाँ बैठेगा। या राधानाथ सहाय जी कहीं से आकर रहेंगे। वह बना तो केवल इसलिये कि आप लोग मानव हैं। और आश्रम शरणानन्द का नहीं है, बुधिया जी का नहीं है, किसी व्यक्ति विशेष का नहीं है। वह आश्रम है मानव-मात्र का। वह मानव-मात्र का जो आश्रम है, उसमें जाकर, बैठकर प्रत्येक भाई को अपने विवेक के प्रकाश में अपने जाने हुये असाधन का त्याग करना है। जब हम अपने जाने हुये असाधन का त्याग करेंगे, तब सच मानिये, अपने आप साधन की अभिव्यक्ति होगी। जब साधन की अभिव्यक्ति होगी तब हम सब साधन-निष्ठ हो जायेंगे। साधननिष्ठ होते ही अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण होगा, यह निर्विवाद सत्य है।

इसलिये भाई ! आज का जो प्रश्न है जीवन में, वह बिल्कुल यह नहीं है कि आपको किसी और से कुछ लेना है अथवा कोई और आपको कुछ दे सकता है। आज का मौलिक प्रश्न तो यह है कि जो आपको प्राप्त है उसका सदुपयोग कीजिये। प्राप्त क्या है ? विवेक शक्ति प्राप्त है, भाव शक्ति प्राप्त है और वस्तु, अवस्था, परिस्थिति प्राप्त है। जो प्राप्त है उसका जब आप सदुपयोग करने लगते हैं, तब आप सच्चे साधक हो जाते हैं। और सदु-पयोग करने में जो कठिनाई मालूम हो आपको, उसको सहन कीजिये। सच्चाई की खोज करने में जो कठिनाई है वही न ! तप है। उस तप से आपमें सामर्थ्य आयेगी। आप सच मानिये, उस अनन्त की अहैतु की कृपा निरन्तर योग की, ज्ञान की, प्रेम की वर्षा कर रही है। परन्तु दुःख की बात तो यह है कि हम उस कृपा के द्वारा जो वर्षा हो रही है उसका उपयोग नहीं कर

पाते। आप कहें, कैसे उपयोग नहीं कर पाते ? क्या हम थोड़ी-थोड़ी देर के लिये शान्त होते हैं ? यदि शान्त हुये होते तो आपको स्वयं अनुभव होता कि प्रभु की कृपा शक्ति योग दे रही है, प्रेम दे रही है, ज्ञान दे रही है और हम उससे तद्रूप होकर कृतकृत्य हो रहे हैं।

परन्तु दुःख की बात तो यह है कि हम बड़े-बड़े कार्य कर सकते हैं, बड़े-बड़े अभ्यासी हो सकते हैं, बड़े-बड़े पुरुषार्थी हो सकते हैं। लेकिन दो-तीन मिनट भी शान्त नहीं हो सकते। क्या यह भी वीरता है ? क्या यह भी बल है ? क्या यह भी पुरुषार्थ है ? जो आज हमारे लिये शान्त रहना भी दुर्लभ हो गया ! आप सोचें और विचार करें कि यदि हमने और आपने शान्ति का सम्पादन नहीं किया तो सच मानिये, विकास नहीं हो सकता। और जब विकास नहीं होगा तब ह्रास होगा। क्योंकि परिवर्तनशील जोवन में स्थिति नहीं है। या तो हमें विकास की ओर जाना है या ह्रास होना है। इसलिये भाई ! मानव सेवा संघ की नीति के अनुसार हम सबको शान्ति का सम्पादन करना है। शान्ति के सम्पादन में कोई भी भाई, कोई भी बहन न असमर्थ है, न पराधीन है। क्यों ? शान्ति मिलती है विश्राम से। और विश्राम मिलता है तीन प्रकार से—या तो जाने हुये के आदर से, या तो मिले हुये के सदुपयोग से, या अनन्त की शरणागति से। इन तीन प्रकार से पतित प्राणी को भी विश्राम मिल सकता है।

मैं आपसे यह नहीं कहता कि आप मेरे मत का अनुसरण करें। आप अपने ही मत का अनुसरण करें। लेकिन किसी भी मत का अनुसरण करें आप, आपको मिले हुये का सदुपयोग

करना ही पड़ेगा। जाने हुये का आदर करना ही पड़ेगा। और जिसकी आप सत्ता स्वीकार करेंगे, जो आपका लक्ष्य होगा उसकी शरणागति स्वीकार करनी ही पड़ेगी। यही तीन साधन के मूल तत्व है। इन तीनों मूल तत्वों में से आप जिसे अपना सकें अपनी रुचि, योग्यता, सामर्थ्य एव परिस्थिति के अनुसार, उसको अपनाकर साधन आरम्भ करदें। सिद्धि अनिवार्य है और इसी जीवन में है। जब मैं यह कहता हूँ कि अभी है, तो मेरे बहुत से साथी चौंकते हैं और इस बात को भूल जाते हैं कि जिस कारण से मैं अभी की बात कहता हूँ, आप उस हेतु को को अपनाइये, फिर देखिये कि अभी है कि नहीं है। शरणागति अभी हो सकती है। विवेक का आदर अभी हो सकता है। मिले हुये का सदुपयोग अभी हो सकता है।

जिस क्षण से आप मिले हुये का सदुपयोग आरम्भ करेंगे, आप सच मानिये, आवश्यक वस्तुयें आपके पास आने के लिये लालायित हो जायेंगीं। आज क्या है कि वस्तु का चिन्तन करते हैं, वस्तु नहीं मिलती है। तब क्या होगा कि वस्तु आपका चिन्तन करेगी और आवश्यकता से पहले आती जायेगी। लेकिन इस बात पर भरोसा नहीं है। भरोसा किस बात पर है कि चतुराई से, छल से, चालाकी से किसी-न-किसी प्रकार से जहाँ कहीं वस्तु मिल सके, छीन लो। इस बात से कभी आपको वस्तुयें प्राप्त नहीं हो सकतीं। आप कहें कि हम तो प्राप्त कर लेते हैं। आप प्राप्त कर लेते हैं - यह आपकी बुद्धि का धोखा है, भ्रम है। प्राप्त नहीं कर लेते हैं, अपने को खो बैठते हैं। अपने को खो दिया और आपने यह मान लिया कि वस्तु प्राप्त हो गई, तो क्या आपको वस्तु प्राप्त हो गई ? जो कुछ था वह और नाश हो गया।

इसलिये भाई ! हर एक भाई को, हर एक बहन को निश्चिन्त होकर, निर्भय होकर, शान्त होकर—अगर उसके सामने दुःख है तो कोई भय नहीं, सुख है तो कोई उसके द्वारा अपना महत्त्व नहीं—महत्त्व केवल इस बात में मानें कि जो है उसका दुरुपयोग नहीं करेंगे, और जो नहीं है उसकी कामना नहीं करेंगे। भला बताइये, इस बात के मानने में क्या कठिनाई है ? जो है उसका सदुपयोग करें, जो नहीं है उसकी कामना से रहित हो जायं। तब क्या होगा ? निश्चिन्तता रहेगी कि नहीं ? निर्भयता-रहेगी कि नहीं ? निश्चिन्तता भी रहेगी, निर्भयता भी रहेगी। यह निश्चिन्तता जो है, —चाहे आपको मालूम हो, चाहे न मालूम हो - यह बड़ा भारी वैज्ञानिक प्रयोग है। यह ऐसा प्रयोग है कि जितनी आपके जीवन में निश्चिन्तता रहेगी उतनी आपमें सामर्थ्य का विकास होगा। आज का रोगी रोग के भय से मर जाता है। मैं आपसे सच कहता हूँ कि रोग मारेगा तीन साल में तो उसका भय मार दे एक साल में।

क्यों मरने से डरते हो ? जरा सोचो, जब से जन्म हुआ था, क्या तभी से मृत्यु आरम्भ नहीं हो गई ? क्यों मरने से डरते हैं ? मरने के डरने से, क्या मरना बच जायेगा ? बच नहीं जायेगा। प्राण शक्ति बड़ी तीव्रता के साथ क्षीण होती जायेगी और समय घट जायेगा और प्राण-पखेरू उड़ जायेंगे। अगर आपके जीवन में मरने का डर नहीं है, तो सच मानिये, प्रकृति का यह नियम है कि यह जो मानव जीवन आपको मिला है यह किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये मिला है। अगर आपका जीवन अभी से उस उद्देश्य की पूर्ति में लग गया है, कल्पना करो कि प्रारब्ध कर्म के अनुसार आपकी प्राण शक्ति समाप्त हो

गई हो, तब भी बढ़ सकती है। यह भी एक विधान है। पर इस विधान को कोई विरले ही जान पाते हैं।

इसलिये भाई! निश्चिन्तता पूर्वक, निर्भयता पूर्वक आप मिले हुये का सदुपयोग कीजिये, अथवा दुरुपयोग मत कीजिये। और जो नहीं प्राप्त है उसकी कामना से रहित होजाइये। कामना से रहित होते ही क्या होगा कि जो आपकी आवश्यक वस्तु है, जो आपके लिये आवश्यक सामर्थ्य है, जो आपके लिये आवश्यक योग्यता है, वह अपने आप आयेगी। पर जब वह आजाय, उसका भोग मत कीजिये। उसका उपयोग कीजिये। और उसमें ममता मत कीजिये। ये दो बातें करते हुये हर भाई, हर बहन अपनी ही परिस्थिति में साधन का निर्माण कर सकते हैं, अथवा यों कहो कि साधननिष्ठ हो सकते हैं। तो जैसा-जैसा आप मिले हुये का सदुपयोग करते जायेंगे, वैसा-ही-वैसा जाने हुये का आदर होता जायेगा। पहले कर्त्तव्य का ज्ञान होता है, फिर वस्तु के स्वरूप का ज्ञान होता है, फिर वस्तु से असंगता होती है। जिस समय वस्तु से असंगता होती है उसी समय हर एक भाई को, हर एक बहन को तत्त्व का ज्ञान हो जाता है। और तत्त्व के ज्ञान के होते ही अपने आप प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। और प्रेम की अभिव्यक्ति होने से हम सबका जीवन रसमय हो जाता है। रस से परिपूर्ण हो जाता है।

जब जीवन रस से परिपूर्ण हो जाता है तो किसी विज्ञान-वेत्ता से पूछिये, अथवा किसी मनोविज्ञानी से पूछिये कि नीरसता ही काम की भूमि है। जहाँ नीरसता रहती है वहीं कामनायें रहती हैं। और जहाँ रस की अभिव्यक्ति है वहाँ काम नहीं रहता। और जहां काम नहीं रहता वहाँ आस्तिक दर्शन की

दृष्टि से राम रहता है। जहाँ काम नहीं रहता, वहाँ अध्यात्म दर्शन को दृष्टि से स्वाधीनता रहती है, अमरत्व रहता है, चिन्मय जीवन रहता है। जहाँ काम नहीं रहता, भौतिक दर्शन की दृष्टि से वहां दुःख की निवृत्ति और चिर शान्ति निवास करती है। कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि भाई ! काम-रहित होने में ही, राग-रहित होने में ही समस्त विकास निहित है। राग-रहित होने में प्रत्येक भाई सर्वदा स्वाधीन है। इसमें लेश-मात्र भी सन्देह नहीं है।

अतः हम सबको जो कुछ मिला है उसका सदुपयोग करें। किसके नाते ? विश्व के नाते, अथवा कर्त्तव्य-बुद्धि से अथवा प्रभु के नाते। विश्व के नाते मिले हुये का सदुपयोग जीवन को विश्व प्रेम से परिपूर्ण कर देता है। कर्त्तव्य-बुद्धि से मिले हुये का सदुपयोग राग-रहित कर देता है। और प्रभु के नाते मिले हुये का सदुपयोग प्रभु प्रेम प्रदान करने में समर्थ होता है। इस दृष्टि से प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन अपनी प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से ही दिव्य चिन्मय जीवन को भी प्राप्त कर सकते है, प्रभु प्रेम को भी प्राप्त कर सकते हैं। यही मानव जीवन का उद्देश्य है और इसी में मानव जीवन का महत्व है।

ॐ शान्तिः

२१

विवेक के प्रकाश का ही दूसरा नाम शास्त्र है। वह विवेक प्रत्येक भाई-बहिन को नित्य प्राप्त है। विवेक का आदर करने वाला ममता और कामना का त्याग कर देता है। ममता और कामना के नाश के बाद गृहस्थ जीवन-मुक्त होजाता है। जीवन-मुक्त होने के बाद भक्त बनता है। भक्त वह बनता है जो जीवन-मुक्ति को ठुकरा देता है।

साधन में लेश-मात्र भी असमर्थता नहीं है, असिद्धि नहीं है। अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति और सामर्थ्य की अपेक्षा साधन में नहीं है। यह बात कभी मत सोचिये कि हमारा रचयिता इतना अन्जान है कि हमसे साधन करावे और शक्ति न दे। यह साध्य के स्वभाव में नहीं है। उन्होंने जो शक्ति आपको दी है, उसी से साधन करायेंगे। अपने जीवन की अन्तिम अनुभूति है कि श्रम के बिना, वस्तु के बिना और साथी के बिना हम सबको सिद्धि मिल सकती है।

अतः साधन में स्वाधीनता है और साधन-परायणता में सिद्धि है। भोग और पूजा में बड़ा अन्तर है। भोग का अन्त भोग की वासना को जन्म देता है। और पूजा का अन्त प्रेमास्पद की स्मृति को जगाता है। नित्य जीवन के लिये साथी की अपेक्षा नही है। बिना साथी के न रहा जाय तो नित्य साथी की तलाश करो।

एक साथी ऐसा है जो तुम्हारे पीछे खड़ा रहता है, पर तुम्हें दिखायी नहीं देता। उसकी याद करो। जब तुम उसको याद करोगे तो उसे बड़ा मज़ा आयेगा। स्मृति ही बोध और प्रेम का रूप धारण करती है। यही सिद्धि है।

२१

(अ)

आप कोई शास्त्र ऐसा सिद्ध नहीं कर सकते जिसमें निज विवेक के विरोध की बात हो। और वह विवेक प्रत्येक भाई को, बहन को नित्य प्राप्त है। किसने दिया है, इसका भले ही आपको और मुझे पता न हो, पर दिया है किसी ने। जो मौजूद है। अब आप विचार करें कि जब यह बात हम जानते हैं कि ममता अभी तोड़ना है अभी, और कामना अभी छोड़ना है। ममता टूटने के बाद निर्विकार जीवन। फिर चाहे आपको राज्य करने को मिले। ममता और कामना के नाश करने के बाद जो गृहस्थ बनता है, वह गृहस्थ जीवन-मुक्त होता है। और जीवन-मुक्त होने के बाद कोई भक्त बनता है। मेरा जो अपना विश्वास है वह निवेदन कर दूँ—भक्त वह बनता है जो जीवन-मुक्ति को ठुकरा देता है और जीवन-मुक्त वह होता है जो निज विवेक का आदर करता है।

अब आप ही सोचिये, कि इस कार्य को आप अभी करना चाहते हैं, अथवा कभी करना चाहते हैं? जब अभी कर सकते हैं और नहीं करते हैं, तो फिर कर लेंगे, क्या पता है आपको? है कोई सबूत? जो बात अभी कर सकते हैं और न करें और सोचें, कि फिर कभी कर लेंगे तो यह बात सम्भव नहीं है। इसलिए विश्राम में साधन, और बिना सामान में साधन, और बिना साथी में

साधन। इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई अपने साथियों को गोली मार दे। इसका कोई यह अर्थ न लगालें। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि कोई अपने सामान को गंगा में फेंक दे। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि कोई अकर्मण्य होकर सो जाय। इसका सीधा-सादा अर्थ है, कि जो परिस्थिति के अनुसार आप कर सकते हैं, बड़े ही उत्साह पूर्वक कीजिये। बहुत उत्साह, नित नया उत्साह। और जो नहीं कर सकते हैं उसकी ओर से निश्चिन्त हो जाइये, मानो, हम पर कोई जिम्मेदारी ही नहीं है। क्या यह बात जीवन में सम्भव नहीं है ? जो कर सकते हैं उसे उत्साह पूर्वक करें, जो न कर सकते हों उसकी लेश-मात्र भी चिन्ता न करें। जो कर सकते हैं उसे पवित्रता से करें; और जो नहीं कर सकते उसकी लेश-मात्र भी चिन्ता न करें—क्या यह सम्भव नहीं है ? सम्भव है।

लेकिन आज हमारी दशा क्या है ? भगवान् का नाम लेने की बात तो जहाँ-तहाँ रही, रोटी भी उत्साह पूर्वक नहीं खाते हैं। खाते जाते हैं, खीजते जाते हैं। किसी से दिल खोल कर उत्साह पूर्वक मिल नहीं सकते। उत्साह पूर्वक मुँह नहीं धोया, उत्साह पूर्वक हाथ नहीं धोया, उत्साह पूर्वक सोये नहीं, जगे नहीं। सारी जिन्दगी खीजते-खीजते बिता देते हैं। और फिर हमसे उपाय पूछते हैं। ऐसी कोई बात हम नहीं जानते जो आप नहीं जानते। जो बात आप जानते हैं, हम तो आपकी जानी हुई बात की स्मृति दिलाते हैं। वह हमें राग था बोलने का इसलिये, और आप कृपा करते हैं कि सुन लेते हैं। सच, ईमानदारी की बात यही है कि कोई गुरू, कोई ग्रन्थ किसी को ऐसी बात बता ही नहीं सकता जो वह स्वयं नहीं जानता। यही कारण है, हमसे लोग पूछते हैं कि महाराज ! आज्ञा करो।

जब हम कहते हैं कि ऐसा करो तो—ऐसा नहीं ऐसा—वह आज्ञा मानने वाली बात खतम। अच्छा, जो तुम चाहो सो करो तो - ऐसा कैसे होसकता है ! यही न ! आज आपका संकट है। न आप आज्ञा ही मान पाते हैं, न अपने मन की ही बात पूरी करते हैं। सीधे-सादे जो बात आप चाहते हैं दूसरों से, उनसे कहिये—देखिये, हम चाहते हैं कि आप ऐसा कर दीजिये। बस इतना ही त्याग रखिये कि यदि इन्कार कर दें, तो बुरा मत मानिये। सोचिये—प्यारे की मौज। दिल खोल कर कह दीजिये कि साहब ! हम यह चाहते हैं। तो एक तो आपकी अपनी चाह का पता लगे। और सभी चाह तो आपकी पूरी होंगी नहीं। आज तक किसी की पूरी हुई नहीं, तुम्हारी भी पूरी होंगी नहीं। सभी चाह मिटाई जाती हैं, पूरी नहीं की जातीं। सभी कामनायें पूरी नहीं की जातीं, मिटाई जाती हैं। इसलिए वो तो पूरी होंगी नहीं।

लेकिन जो बात आप चाहते हैं, अपने साथियों से कह दीजिये कि हम आपसे यह आशा करते हैं। वे कह दें कि साहब ! आप माफ कीजिये, हमारे वश की बात नहीं है, हमारे विवेक के विरुद्ध है, हमारी सामर्थ्य के बाहर है। तो आप बुरा मत मानिये। बस इतना त्याग बहुत पर्याप्त है। उसके बाद जब आप बुरा मानते हैं कि हाय ! हाय !! रे, मैंने इनसे यह कहा तो इन्होंने इन्कार कर दिया या प्रीति पूर्वक नहीं किया। तो उसकी कीमत मत लगाइये। उस कार्य के साथ मान मत लगाइये। हम ने जब पहले-पहल सोसाइटी आरम्भ की, तो लोगों से यह नहीं कहा कि साहब ! हम बहुत अच्छी बात करने जा रहे हैं, बहुत अच्छी संस्था बनाने जा रहे हैं। हमने कहा कि भैया ! देखो, हमारे में राग है, आप सदस्य बन जाइये, हमारी वासना पूरी हो

जायेगी। कोई हमारा साथी बताये कि न कहा हो। सिवाय इसके कि हम आपके साथ बड़ा उपकार कर रहे हैं। अरे भाई! जो बात हम चाहते हैं, क्यों न! मित्रता के नाते आपसे कह दें कि भैया! आप अगर हमारे मित्र हैं, तो ऐसा कर दीजिये। बिल्कुल ठीक साल भर के बाद हमने अपने मित्रों को लिख कर दे दिया कि अगर आप इस बात को पसन्द नहीं करते हैं तो हम आपको बुरा नहीं मानते, अलग होजाइये। अब वे अलग होना ही नहीं चाहते। यह तो उनके वश की बात है।

तो मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि जो हम साधन करने चले हैं और अपने साथियों से यह नहीं कह सकते कि आप हमारे साथ यह कर दीजिये। और इतना त्याग नहीं रखते कि यदि वे न करें, तो बुरा नहीं मानें। यह न सोचें कि हमारे-इनके बीच का प्रेम मिट जायेगा, विश्वास जाता रहेगा, स्नेह नहीं रहेगा। यह न मानें। अगर आपके मन में यह बात ठीक नहीं मालूम होती है, तो मत कीजिये और अपने प्रेम को, अपनी योग्यता को सुरक्षित रखिये। आप देखेंगे कि आपके चित्त में कितनी शान्ति आती है, कितना बल आता है, कितनी एकता आती है! सम्भव है कि वही बात उसके मन में पैदा हो जाय और आपसे प्रार्थना करे कि अब हम नहीं रह सकते आपका यह किये बिना।

आप कहेंगे—हाय! हाय!! क्या बतायें, साधन बड़ा कठिन है। भैया! साधन कठिन का अर्थ यही है कि एक ऐसी सृष्टि रची जाय जो इस बात की प्रतीक्षा करे कि जो आपका संकल्प उठे वही पूरा होजाय। आप जैसा व्यक्ति देखना चाहें, जैसी वस्तु देखना चाहें, वही होजाय। भगवान् न करे कि विधान

में यह बात आजाय । क्यों ? आजकी माँ खीजकर कहती है कि कम्बख्त ! मर जाय। और लड़का उसी समय मर जाय तो, क्या दशा हो ! आप सोचिये, जो बात आप अपने मन की पूरी करना चाहते हैं, क्या आपने कभी यह भी सोचा कि आपका आपके मन पर इतना अधिकार है कि आपके मन में ग़लत बात नहीं आये ? हमारे में तो है नहीं, इसलिये हम हमेशा कहते हैं कि हे प्रभू ! तुम्हारे मन की बात पूरी हो। क्यों कहते हैं ? यह इसलिये कहते हैं कि हमें नहीं भरोसा है कि कब मन में बुरी बात आजाय।

भाई ! साधन में लेश-मात्र भी असमर्थता नहीं है, असिद्धि नहीं है। लेकिन कब ? जब आप यह बात स्वीकार करें कि बिना साथी के, बिना सामान के, बिना परिश्रम के भक्त को भगवान् मिल सकता है; जिज्ञासु को तत्वज्ञान होसकता है, योग के अभिलाशी को योग मिल सकता है। अगर यह बात आप स्वीकार कर लें कि दुःखी के दुःख की निवृत्ति होसकती है, अशान्त को शान्ति मिल सकती है, तो प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहन को सिद्धि मिल सकती है । अगर आप स्वीकार नहीं करते, तो जो चीज़ परिश्रम से मिलती है, वह सबके लिये नहीं है। जो चीज़ वस्तु से मिलती है वह सबके लिये नहीं है । जो चीज़ व्यक्ति से मिलती है, वह सबके के लिए नहीं है। पापा ! आप ही बताओ कि जबसे आपका वह दही जमाने वाला मर गया है, वैसा दही आज तक आपको मिला ? नहीं मिला। यह आपके वश की बात है ? आप हमें बतायें, दुनियाँ में बड़े-से-बड़े आदमी का उदाहरण देदें कि वस्तु के द्वारा, व्यक्ति के द्वारा, परिश्रम के द्वारा जो चीज़ प्राप्त होती है, क्या वह सभी को मिल सकती है ? सदैव मिल सकती है ? तब तो हम मानलें। पर

ऐसा तो नहीं है। इसलिए भाई ! वस्तु के द्वारा, व्यक्ति के द्वारा, परिश्रम के द्वारा जो कुछ मिलता है, वह व्यक्तिगत है। सबके लिये नहीं है।

जो चीज सबके लिये नहीं है, क्या ईश्वरवादी का वह ईश्वर है ? कोई आज तक हमें यह बताये, कि क्या उसका नाम भी ईश्वर होगा जो सबके लिए न हो ? क्या उसका नाम भी तत्वज्ञान होगा जो सबके लिये न हो ? क्या उसका नाम भी दु:ख-निवृत्ति होगा जो सबके लिये न हो ? क्या उसका नाम भी चिरशान्ति होगा जो सबके लिए न हो ? आप विचार करें, बतायें। आपको मानना पड़ेगा कि दु:ख-निवृत्ति का प्रश्न सबके सामने है, चिरशान्ति का प्रश्न सबके सामने है, तत्वज्ञान का प्रश्न सबके सामने है और प्रभु प्राप्ति का प्रश्न सबके सामने है। जिसकी प्राप्ति सबके सामने है, उसके लिये ऐसा साधन होना चाहिये जिसे सभी कर सकें।

तो यह वही साधन होसकता है कि जो वस्तु मिली है उसका ठीक उपयोग कीजिये। जो शक्ति मिली है उसका ठीक उपयोग कीजिये। जो साथी मिले हैं उन्हें आदर और प्यार दीजिये।—सो नहीं—कठोर बोलेंगे, उनकी पहले गलती देखेंगे कि तुमने तो यह कहा था, कहाँ किया ? अरे भाई ! उन्होंने नहीं किया तो तुम्हें नुकसान क्या पहुँचाया ? आज का साधक यह सोचता है, कि जब मैं साधन करने चलूँ तो मुझे ऐसे साथी मिलें, कि मेरा रुख देखकर मेरी मन की बात पूरी करते रहें। तो भाई ! न तो आज तक किसी को मिला, न अब किसी को मिला हुआ है, न आगे किसी को मिलेगा। यह बात त्रिकाल में होने वाली नहीं है। जो बात होने वाली नहीं है,

उसका त्याग ही त्याग है। अब देखिये, सन्यास कितना सरल होगया! सन्यास किसे कहते हैं आप जानते हैं? कि जो न होने वाली बात को अपने जीवन में से सदा के लिये निकाल देता है। सभी कामनाओं की पूर्ति न होने वाली बात है। जिसने कामना-पूर्ति जीवन में से निकाल दी, सन्यास होगया। मिली हुई वस्तु सदैव बनी रहे—यह न रहने वाली बात है, अतः जिसने ममता निकाल दी, सन्यास होगया।

तात्पर्य यह था कि आप इस सत्य को सामने रखकर, जो आपका अपना सत्य है, आपकी रुचि के अनुसार अपना कार्यक्रम बना लीजिये। लेकिन ये दो बातें सामने रखिये कि यह सत्य से अलग न होने पाये, इस सत्य का बिरोध न होने पाये। फिर आप अपनी रुचि के अनुसार कार्यक्रम बना लीजिये। बिल्कुल पूरा होगा, आपको शान्ति मिलेगी, दूसरों को भी प्रसन्नता होगी। आज दशा क्या है? आज की माँ ईमानदारी से बच्चों को प्रसन्न नहीं रहने देती। आप कहेंगीं—हम तो दिन-रात बच्चों का हित चाहते हैं। बिल्कुल झूठी बात। जिसे बच्चों की प्रसन्नता अभीष्ट होती है, वह बच्चों से मोह नहीं करता, बच्चे पर अपना अधिकार नहीं मानता और वह चित्र सामने रखता है कि बच्चे के बच्चे भी तरस जायँ, हमेशा सेवा करने के लिये। सो नहीं। हम चाहती हैं कि तुम्हारी लुगाई रामायण का पाठ सुने। क्यों सुने भाई? हम न! सुनती रही हैं। अरे! तुमने सुनी सो कौनसी निर्मोहता प्राप्त करली? कौनसा वैराग्य प्राप्त कर लिया? अपने को और दूसरों को धोखा दिया। जैसी तुम सुनती रही हो, हम तो कहते हैं, कि कोई न सुने।

कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि आज का साधक खीजता है, रोता है, घबराता है, कि क्या बतायें, हाय ! शरीर काम नहीं देता। अरे ! शरीर काम नहीं देता, तो साधन में क्या बाधा है ? क्यों जिन्दा रहने की सोचती हो ? क्यों काम करने की सोचती हो ? पड़ी रहो, जहाँ पड़ी हो वहाँ। क्या परवाह है ? अरे ! शरीर अमर होजायेगा ? अमर तो आज तक किसी का हुआ नहीं, तुम्हारा होगा नहीं। तो मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि कल सायंकाल की चर्चा की ये जो तीन बातें हैं, कि साधन में सिद्धि पाने के लिये उस श्रम की अपेक्षा ही नहीं है जिसे आप नहीं कर सकते, उस वस्तु की अपेक्षा ही नहीं है जो आपको प्राप्त नहीं है, उस व्यक्ति की अपेक्षा ही नहीं है जो आपके पास नहीं है। अप्राप्त वस्तु की, अप्राप्त व्यक्ति की, अप्राप्त सामर्थ्य की साधन में अपेक्षा नहीं है। यह तो है मूल साधन। और इसका बाह्य स्वरूप क्या है ? कि मिली हुई वस्तु का, मिली हुई सामर्थ्य का, मिले हुये साथियों का दुरुपयोग न करें। चाहे हमें कैसा ही व्यक्ति मिला है उसको आदर देंगे, प्यार देंगे। अगर आदर और प्यार नहीं दे सकेंगे तो उसका भला चाहेंगे। उसे भला समझेंगे। और अगर यह भी नहीं कर सकेंगे तो उससे क्षमा माँग कर सम्बन्ध तोड़ देंगे।

आप हमें बतायें, कि साधन में कहाँ कठिनाई है ? अगर आपका साथी अच्छा नहीं है आपकी दृष्टि से, तो उससे क्षमा माँगलो, और सम्बन्ध तोड़ दो। अगर आप अपने साथी को आदर दे सकते हैं, तो देदो, प्यार दे सकते हैं तो देदो, कोई उसकी प्राप्त वस्तु है उसे दे सकते हो तो दे दो। नहीं दे सकते, तो लेने की आशा छोड़ दो। साधन निर्माण होगया। देंगे भी

नहीं, लेने की आशा भी नहीं छोड़ेंगे। दिन-रात खीजेंगे कि कोई ऐसी युक्ति होती कि जो हम चाहते हैं सो होजाता। मेरा अपना अब तक का अनुभव है, कि जो हम चाहते हैं वह न हो, इसी में हमारा हित है। और भाई ! हमने तो जब तक अपने मन की मानी है, अपने मन की बात की है, तो सिवाय पतन के, सिवाय अवनति के, हमें तो कुछ परिणाम में मिला नहीं। इसलिये अगर आप यह सोचते हैं, मैं आपके सामने अपनी अनुभूति निवेदन कर रहा हूँ और इससे लाभ उठाना चाहते हैं तो अपनी चाही मत करो। प्रभु की चाही होने दो। प्रभु वही चाहते हैं, जो अपने आप होरहा है। इसलिये भाई ! साधन में स्वाधीनता है और साधनपरायण होने में सिद्धि है। अब आप सोचिये, यदि आप मिली हुई वस्तु के द्वारा प्रभु की पूजा करते हैं और पूजा का जब अन्त होता है, तब क्या प्रभु की मधुर स्मृति उदय नहीं होगी ? देखिये, पूजा में और भोग में एक बड़ा अन्तर है। भोग का अन्त भोग की वासना को जन्म देता है, और पूजा का अन्त प्रेमास्पद की स्मृति को जगाता है। यह नियम है। यह अटूट नियम है, कि अगर आपने अपने वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म द्वारा प्रभु की पूजा की है, तो पूजा का अन्त प्रिय की मधुर स्मृति में होगा। अगर आपने वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म को अपने सुख की आशा से किया है, तो उसके अन्त में एक नवीन राग उत्पन्न होजायेगा। और यदि आपने वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म राग-रहित होने की दृष्टि से किया है, तो कार्य के अन्त में शान्ति का सम्पादन होगा। इन तीन चीजों पर आप विचार करलें। आप जो कार्य करते हैं उसका अन्त शान्ति में होता है या नहीं, उसका अन्त प्रिय की मधुर स्मृति में होता है कि नहीं। अथवा उसका अन्त किसी नवीन कामना

को जन्म देता है। यदि किसी नवीन कामना को जन्म देता है, तो हमने भोग किया, पूजा नहीं की। कर्त्तव्य पालन नहीं किया, भोग किया। कर्त्तव्य पालन में कर्त्तव्य का अन्त चिरशान्ति में, पूजा में कर्त्तव्य का अन्त प्रिय की मधुर स्मृति में स्वतः होता है। परन्तु ये बात आज बड़ी ही दुर्लभ मालूम होती है। क्यों दुर्लभ मालूम होती है? कि हम चौबीस घण्टे में कुछ समय यानी समय का कुछ भाग पूजा में बिताना चाहते हैं और शेष भोग में। और वह कुछ समय पूजा में बिताना चाहते हैं, वह भी अपने सुख के लिए। भगवान् के ध्यान में सुना है बड़ा आनन्द आता है। अतः ध्यान करना चाहते हैं। भगवान्-दर्शन में बड़ा आनन्द आता है, इसलिये दर्शन करना चाहते हैं। तो सारा जीवन तो लगा दिया अपने सुख में। ध्यान काल भी अपने सुख में और भाई! प्रवृत्ति काल भी अपने सुख में, तो बताइये, सुख के भोगी के मन में क्या नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होगी? जो सुख भोगेगा उसके मन में नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होगी? मानना पड़ेगा—अवश्य होगी।

एक बार हमारे मन में एक प्रश्न पैदा हुआ। वह प्रश्न यह पैदा हुआ कि जैसे समय पाकर शरीर बदल जाता है, परिस्थिति बदल जाती है, तो भाई! समय पाकर चित्त अपने आप सूक्ष्म, विभु और शुद्ध क्यों नहीं होता? जैसे आप देखिये, काल की अपेक्षा से हर चीज बदल जाती है, तो काल की अपेक्षा से चित्त में परिवर्तन क्यों नहीं आता? तो इस प्रश्न का उत्तर हमें जो मिला वह तो यह मिला कि इसलिये नहीं आता, कि हमारे चित्त की जो वर्तमान वस्तु स्थिति है, वह एकसी हम नहीं रखना चाहते। अपने चित्त के व्यापार में जैसी आस्था रखनी चाहिये, जैसी दृढ़ता रखनी चाहिये, वह

नहीं रख पाते, जैसी निर्मलता रखनी चाहिए वह निर्मलता नहीं रख पाते। इसका परिणाम यह होता है, कि चित्त की जो शिकायत बीस वर्ष पहले, तीस वर्ष पहले, चालीस वर्ष पहले थी—कि हमारा मन उसमें नहीं लगता जिसमें लगना चाहिये, कि हमारा मन उससे नहीं हटता जिससे हटना चाहिए—आज भी वही शिकायत है। भाई ! क्या बात हो गयी ? यह समस्या हल क्यों नहीं हुई ? वह इसलिए हल नहीं हुई, कि हमने अपनी आस्था को सुरक्षित नहीं रखा, अपने सद्भाव को सुरक्षित नहीं रखा, अपने विचार को सुरक्षित नहीं रखा, उसमें विकल्प कर दिया, उसको रहने नहीं दिया एक रस। उसका यह परिणाम हुआ, कि चित्त नहीं बदला। नहीं तो भाई ! हम सबका चित्त अपने आप या तो प्रेम में विलीन हो जाता, या बोध में विलीन होजाता, या योग में विलीन हो जाता अपने आप, पर ऐसा नहीं हुआ। क्यों नहीं हुआ ? कि हमने अपनी आस्था को स्थायी नहीं रक्खा।

कल्पना करो, मैं अपने मित्रों से पूछता हूँ, कभी डर के मारे नहीं पूछता, कि उन्हें तकलीफ होगी, सच्ची बात बतायेंगे नही। मैं पूछता हूँ, कि ईमानदारी से बताओ, कि तुम मेरे पास क्यों आते हो ? मिलने आते हो, परामर्श लेने आते हो, तो तुम लेते नहीं, और सेवा करने आते हो तो तुम सेवा करते नहीं। अब बताओ, क्यों आते हो ? दो ही तो बात होसकती हैं। यदि आप समझते हैं, कि मैं आपको ठीक राय दूँगा, मुझसे परामर्श कर लीजिये। अगर आप समझते हैं कि बेचारा दुःखी है, अन्धा है, असमर्थ है, तो आप सेवा कीजिये। तो आप सेवा भी नहीं करते, परामर्श भी नहीं लेते, तो क्यों आते हैं ? सिर्फ इसलिये कि भाई देखो ! मौज रहेगी, मजा रहेगा।

बहुत कम लोग हैं, जिनको ईमानदारी से मिलने में प्रसन्नता होती है। बहुत कम लोग हैं। बल्कि—हाँ साहब ! वहाँ गये थे, और तो सब बात ठीक थी, पर यह नहीं था—इस प्रकार के संस्कार लेकर के हम सत्संग के समारोह से अलग होते हैं। तो भाई ! इससे काम चलेगा नहीं। हमने लोगों को बहुत अवसर दिया। महीनों साथ रक्खा, महीनों, बल्कि किसी-किसी को तो बरसों साथ रक्खा। लेकिन वही दशा जो पहले थी वह आज भी है। अन्तर किस बात में हुआ ? कि जब अलग होवेंगे तब रोयेंगे। और किस बात में अन्तर हुआ ? इस बात में अन्तर हुआ, कि हमको खाना अच्छा लगता है। तुम्हारा पेट भले ही खराब होजाय, खाओ जरूर। इसमें अन्तर हुआ। भाई ! इसको तो हम सत्संग नहीं मानते।

हम तो सीधी-सादी बात आपसे निवेदन करते हैं, कि आपका जीवन बड़े ही महत्व का जीवन है। और आपको भगवान् मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं। आप जितना चाहिये, आदर लीजिये, जितना चाहिये प्यार लीजिये। आपको हर्ष होता है, कि हमें आदर से लाभ होता है। और हमसे दिल खोल कर कहदें कि आप हमको आदर दीजिए, तो हम नित्य जितनी बार चाहें, चरण स्पर्श कराइए, हम राजी हैं। जितनी बार चाहें, प्यार देने को राजी हैं। वस्तु तो हमारे पास है नहीं। अगर आपको और कोई प्यार नहीं देता है तो, प्यार देने को राजी हैं, और कोई आदर नहीं देता है, तो आदर देने को राजी हैं। विचार करना चाहें, तो विचार करने को राजी हैं। लेकिन आपकी कामना-पूर्ति हमारे प्रभु नहीं कर पाते हैं, तुम खुद नहीं कर पाते हो, तो हम कैसे कर पायेंगे !

हम तो कहते हैं, कोई आदमी, किसी को आदर की भूख हो, किसी को प्यार की भूख हो, हम ईमानदारी से, बनावट के साथ नहीं, और आपके पास कोई भी उसका क्रियात्मक रूप हो, क्योंकि हृदय की बात जानलें, तो बहुत सुन्दर बात है, कोई भी क्रियात्मक रूप हो, आप कहो, आपका चरण धोकर पी लें, आपको चन्दन लगादें, माला हो तो माला पहना दें। संकल्प से सब पूजा करदें आपकी विधिवत्, जितनी आप चाहो। आप आकर बैठ जाया करो, अगर हम रोज न करदें, तो तुम जो चाहो, सो करो। लेकिन भाई !कहो तो सही कि आप आदर चाहते हो। लेकिन तुम यह कहो, कि हमारे मन की यह बात पूरी करदो, सो हम नहीं कर सकते, वह तो हमारे हाथ की बात नहीं है। न हम कर सकते हैं, न कोई कर सकता है और न इसमें तुम्हारा हित है। हित भी नहीं है।



२१

(ब)

इसलिये भाई, साधन में श्रम की कोई अपेक्षा नहीं है। साधन में सामान की कोई अपेक्षा नहीं है। साधन में किसी साथी की कोई अपेक्षा नहीं है। हाँ, जब कभी तुम्हें अकेला रहना बुरा लगे, तो नित्य साथी की याद करो, जो कभी अलग न हो सके। अकेले रहने में बुरा लगता है, तो नित्य साथी की याद करो। अथवा आपसे सेवा बिना करे न रहा जाय, तब किसी साथी की तलाश करो। अगर आप सेवा करना चाहें तो आपको साथी न मिलें, ऐसा तो कभी हो नहीं सकता। एक समय तो था, जब सेवा करने वाले तरसते थे, पर कराने वाला नहीं मिलता था। आज तो आप जितनी चाहो सेवा करो। शरीर से करो, धन से करो, लेकिन जिसकी सेवा करो उससे मत कहो कि तुम क्या करते हो। बस इतनी ही शर्त है। अगर तुमने यह कह दिया कि तुम भी यह करो, तब तो आपको साथी नहीं मिलेगा। तो भाई, सेवा करने के लिये साथी की आवश्यकता नहीं है और याद करने के लिये साथी की आवश्यकता नहीं है। अगर कोई कहे कि साथी की याद में बड़ा मजा आता है—"इन्तज़ारी, बेकरारी, बेसबर ! आह सर्दो, रंग ज़र्दो, चश्मतर !!" वह भी हो सकता है।

एक ऐसा भी साथी है, जो तुम्हारे ही पीछे खड़ा रहता है और तुम्हें दिखाई नहीं देता। उसकी याद करो। जब तुम

उसकी याद करोगे, जब वह तुमको देखेगा, तो उसे बड़ा मजा आयेगा। एक ऐसा भी साथी है। ऐसे साथी की याद करने का मजा लेना चाहो तो ले लो। सेवा करने का मजा लेना चाहो तो ले लो। आप बताइये, साधन में कठिनाई है कहाँ? कठिनाई जहाँ आपको मालूम हो, तो समझ लें, कि हम अपने मन की कोई बात पूरी करना चाहते हैं, कामना पूरी करना चाहते हैं, इसलिये कठिनाई है। अतः भाई, कामना-पूर्ति में तुम्हीं को कठिनाई नहीं, सभी को कठिनाई है। इसलिये यह बात हृदय में सदा के लिये अंकित करनी पड़ेगी, कि साधन में स्वाधीनता है, साधन में सिद्धि है और मानव-जीवन साधन-युक्त जीवन है। इस बात को प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहन को स्वीकार करना ही पड़ेगा, कि साधन में सिद्धि है, स्वाधीनता है और मानव-जीवन साधनयुक्त जीवन है। आप विचार कीजिये। साधक की वास्तविक आवश्यकता को, हमारा ऐसा विश्वास है कि साध्य स्वतः पूरी करता है।

देखिये, एक बड़े रहस्य की बात है, कि साध्य ने साधन करने की शक्ति देकर साधन कराने की आशा की है। यह बात मत सोचिये कभी, कि हमारा साध्य इतना बेसमझ है, इतना अन-जान है कि हमसे साधन कराये और शक्ति न दे! यह साध्य के स्वभाव में नहीं है। साध्य ने जो शक्ति आपको दी है, उसी के द्वारा वह साधन की आशा रखता है। इससे अधिक की आशा नहीं रखता। जब यह बात हमको सत्य मालूम हुई, तब से हमको तो कोई डर नहीं लगता। अब हमारे साथी कहेंगे कि तुम्हें डर नहीं लगता, तो हमें क्यों हटाते हो? तो भाई, अलग तो हम इसलिये हटाते हैं, कि आप साधन नहीं करना चाहते हो। आप साधन के भेष में सुख भोगना चाहते हो। आप ही

सोचो, कोई कहता था कि हम छः घण्टे काम करेंगे, कोई कहता था कि हम आठ घण्टे काम करेंगे। हमने एक दिन कहा कि यहाँ बाथरूम में बदबू आती है। तुम्हें कर्त्तव्य नहीं सूझा? आप जाइये नीचे के चौक में। जिस दिन हम इसमें घुसे थे, क्या इतना गंदा था? इतना गंदा नहीं था। अगर मालिक मकान ठीक नजर से देखे, तो यहाँ की हर चीज को हमने गंदा किया है। यहाँ रहे कौन थे? कि साहब, साधक रहे थे, साधक। साफ मकान मिला, और गंदा करके दिया। यह हम साधकों की आज पहचान है!

तो मेरे भाई, यूरोप में तो हमने यह सुना है, कि लैट्रिन को भी लोग गंदा करके नहीं छोड़ते और साधन का दम नहीं भरते। वे यह नहीं कहते कि हम बड़े साधक हैं। और आज हमारा साधक गन्दा मकान छोड़ जाय। खा कर पेट खराब करले। आपस में राग-द्वेष करके अलग होता है साधन समारोह के सत्संग से। तो यह जो हमारी दशा है, बड़ी शोचनीय है। इसलिये अंतः प्रेरणा हुई, कि अपनी स्वाधीनता को न्यौछावर करो और पराधीनता जो हो, उसके अनुसार कुछ दिन अकेले रहो। मैं सच कहता हूँ आपसे, आपने कभी देखा है? मुझे एकान्त कभी सोने को मिलता है? कोई बता दे। ऋषीकेश में बता दे, वृन्दावन में बता दे, यहाँ बता दे। यानी कभी नहीं मिला आज तक। वर्षों बीत गये, एकान्त सोने को नहीं मिला। और उस पर भी आपने कभी ध्यान नहीं दिया, कि हमारे ऊपर भी कुछ जिम्मेदारी है। मेरे जीवन की अन्तिम अनुभूति है, कि श्रम के बिना, वस्तु के बिना, साथी के बिना, हम सबको सिद्धि मिल सकती है। आज का साधक सम्मान चाहता है, मन की बात

पूरी करना चाहता है और दूसरों को बुरा समझने में बहुत दक्ष होगया है। इन तीन कारणों से भाई ! साधन का निर्माण नहीं हुआ, सिद्धि नहीं मिली।

अब विचार यह कीजिये, कि विश्राम मिले कैसे ? बेसाथी के होवें कैसे ? बेसामान के हम होवें कैसे ? बहुत सीधा उपाय है, कि जिनके साथ आप रहें, आदर और प्यार सभी को दें। होसके तो शरीर से, समझ से, जरूरत अनुभव करें तो सेवा करें। उपदेश करने की जो सेवा है वह सबसे नीचे दर्जे की है। जो साधक उपदेश करने की सेवा करेगा, तो सेवा से हित तो होता ही है, पर लम्बा रास्ता बन जायेगा। अब कोई कहे कि आपने हमें फिर व्याख्यान करने की सेवा क्यों बताई ? तो कहना होगा कि हमने इसलिये नहीं बताई कि आप उपदेष्टा बन जायँ। इसलिए बताई कि आप जन-समाज के सामने यह कहें कि अमुक बुराई से मुझे बड़ा कष्ट हुआ है, आप लोगों के सामने यह बात इसलिये दोहराता हूँ बार-बार कि वह बुराई मेरे जीवन में न घट जाय। अपने को समझाने के लिये दूसरों को समझाने का प्रयास है। इस तरह से आप भले ही किसी से बात करें। लेकिन यह मानकर– कि हम बड़ी चीज़ हैं और श्रोता छोटी चीज़ हैं— यह मानकर कभी उपदेश की भावना साधक के मन में नहीं आनी चाहिये। क्यों नहीं आनी चाहिये ? आप किसी को वह उपदेश नहीं बता सकते, जो वह नहीं जानता है। जब वह अपना ही जाना हुआ नहीं मानता है, तो आपका बताया हुआ नहीं मान लेगा। तो करें क्या ? उसके द्वारा अपने को समझाने का प्रयास करते रहें। इस तरह से दूसरों को समझाते-समझाते स्वयं समझ जायेंगे। इसका नाम है—विचार विनिमय। इसका नाम उपदेश नहीं है।

हम लोग आपस में मिल-बैठकर जिनके साथ रहते हैं, बड़ी सच्चाई के साथ—यह नहीं, कि जिनके साथ रहते हैं उन्हीं के दोष देखकर के यह सोचें कि भाई! यह तो विचार विनिमय का सत्संग होरहा है, देखो! तुमने यह ग़लती की, तुमने यह गलती की—यह नहीं बल्कि यह कि देखो, आज हमसे यह गलती हुई। दूसरे कहें, कि आज हमसे यह ग़लती हुई--विचार विनिमय करें। अपनी-अपनी भूल को सामने रखकर दो व्यक्ति यदि बातचीत करें, तो दोनों ही भूल-रहित होसकते हैं। लेकिन अगर एक व्यक्ति अपनी भूल को सामने रखता है, तो दूसरा उत्तर देने की सोचता है, समझाने की सोचता है और यह समझता है कि मानो यह नहीं जानता, मैं जानता हूँ। यह बात बिल्कुल गलत है। अगर आप यह कह सकें—कि हमसे यह भूल हुई, तब हमने यह किया था, सम्भव है. कि इससे आपको लाभ हो—इससे ज्यादा परामर्श देने का आप प्रयास न करें।

जहाँ सुनने वालों ने थोड़ी-सी महिमा गाई, वहाँ आपने सोच लिया, कि अब हमें सिद्धि प्राप्त हो गई और आपने यह मान लिया, कि अब हम मानव सेवा संघ के सबसे अच्छे कार्य-कर्ता बन गये, लोग हमारी तारीफ करते हैं, वे हमें सुनना चाहते हैं। उस समय आप विचारशील हैं, तो सोचना चाहिये कि हाय! हाय!! अगर हमारे मन में सम्मान की वासना न होती, तो प्रभु अपने को दीन बनाकर हमें समर्थ बताते! अपने को वेसमझ बनाकर हमारी समझदारी की महिमा गाते! हृदय फटने लगता! तब समझना चाहिये, कि आपने मानव सेवा संघ की नीति के अनुसार सत्संग आरम्भ कर दिया। यदि आपको रस मालूम होने लगा, कि हाँ, हम इतने सुन्दर होगये हैं

कि हमको तो सैकड़ों आदमी मिल सकते हैं, हमारे बिना लोग रह ही नहीं सकते हैं, हमारे पास तो बहुत से निमन्त्रण आते हैं, हमारी बात लोग ज्यादा सुनना चाहते हैं—यह बात जब तक मन में उठती है, समझ लो कि हम एक आदमी को भी सही नहीं बना सके। क्योंकि इसका फल यह नहीं था। सही बात बताने का फल यह नहीं था कि लोग हमारे पीछे ऐसे चिपक जायँ कि पीछा न छोड़ें। सही बात बताने का फल यह था कि इन्हें हमारी जरूरत न रहे और जो काम हमने उनके साथ किया, वे दूसरों के साथ करने लग जायँ। एक स्वाधीनता का साम्राज्य बन जाय। यह है भैया! मानव-सेवा-संघ की नीति के अनुसार सत्संग प्रणाली। आज सत्संग प्रणाली का महत्व यह मान लिया जाता है कि जो हमारे सत्सग में आकर फँस गया वह निकल न सके कभी। स्वाधीनता का अनुभव ही न कर सके। यह सत्संग नहीं है।

ये तो वे प्रभु हैं, मैं सच कहता हूँ, अगर आप ईश्वरवादी हैं, तो प्रभु हैं जो आपकी कामना पूर्ति के लिए आपके पीछे लगे हैं। आपको सन्मान देते हैं, आपको प्यार देते हैं। यह आपके सत्संग का महत्व नहीं है। तभी न ! गुरू को चेले का चिन्तन होता है। क्यों भैया ? चिन्तन तो उसे होना चाहिए था, तुम्हें क्यों होगया ? इसलिये भाई ! यह जो उपदेश करने वाली जो सेवा है इसको कम-से-कम किया जाय। इस सेवा से मैंने बहुत कठिनाई सही है। आज भी सहनी पड़ती है। आप लोग अगर इस अनुभव का लाभ उठाना चाहें, तो अच्छा तो यह होता कि शायद हम लोग मूक-सत्संग के द्वारा सारे विश्व में सत्य का प्रकाश विभु कर देते। आज इसकी बड़ी भारी आवश्यकता है। मैं आपको सच कहता हूँ। आपको ऐसा रस

मिलेगा, जैसा रस किसी भी दुनिया के बड़े आदमी को मिला हो। छोटे-छोटे रस में उस बड़े रस का त्याग मत करो। आपके जीवन में ही वह रस है। आपसे दूर नहीं है। उस बड़े रस का त्याग मत करो छोटे-छोटे रस में फँस कर। यह बड़ा छोटा रस है कि जिस रस के लिए आज हम पराधीनता अनुभव करते हैं। वस्तु के अभाव में जो नीरसता है उसी का नाम पराधीनता है भाई। व्यक्ति के अभाव में जो नीरसता है, उसी का नाम न ! पराधीनता है भाई। सामर्थ्य के अभाव में जो शक्ति हीनता है वही न ! पराधीनता है भाई।

इसलिए हमें तो वह रस चाहिए जो श्रम-साध्य नहीं है, जो वस्तु-साध्य नहीं है, जो व्यक्ति-साध्य नहीं है। वह हम सबको मिल सकता है। जो हम सबको मिल सकता है वही हमारा जीवन है। जो नहीं मिल सकता वह हमारा जीवन नहीं है। इसलिए आज उस मौलिक प्रश्न को हल करना है कि जो हमारा जीवन है, उससे हम विमुख न हों। उसकी हमें विस्मृति न हो। गम्भीरता से विचार कीजिये, जीवन का नाश नहीं होता। यह बड़े रहस्य की बात है। उसकी विस्मृति हुई है, उससे विमुखता हुई है, नाश नहीं हुआ है। जिसका नाश नहीं हुआ है उसे जब चाहे तब लेलो। देखिये, यह बात सिद्ध होती है कि नहीं ? यानी जिसका नाश हुआ ही नहीं या होसकता ही नहीं या कभी होगा ही नहीं, उसको जब चाहो तब प्राप्त करलो। तो जो आपका वास्तविक जीवन है, उसका नाश कभी नहीं हुआ है, न कभी होगा, न होसकता है। हाँ, उसकी विस्मृति होगई है। उससे हम विमुख होगये हैं। वह विस्मृति क्यों होगई है ? कि हमने श्रम के द्वारा, व्यक्ति के द्वारा रस सम्पादन में आस्था कर ली है। इतनी-सी बात है। यदि हम वस्तु के द्वारा, श्रम के द्वारा, व्यक्ति के द्वारा रस सम्पादन की आस्था नहीं

रखते हैं, तो आप सच मानिये, उस अविनाशी जीवन की स्मृति जागेगी। उस अविनाशी जीवन के साथ आपकी सम्मुखता होजायेगी। विमुखता नाश होजायेगी। जब विमुखता नाश हुई, तो योग प्राप्त हुआ। जब स्मृति जगी, तो बोध प्राप्त होगया और प्रेम प्राप्त होगया। स्मृति बोध और प्रेम की प्रतीक है, जिसको हम भूल जाते हैं, उसके बोध की प्रतीक है और जिसके विना नीरसता है, उसके प्रेम की प्रतीक है। स्मृति ही बोध और प्रेम का रूप धारण करती है। यह बड़े रहस्य की बात है। स्मृति वह नहीं होती, जिसे करना पड़े। किसी भूखे व्यक्ति को भोजन की स्मृति करनी पड़ती है क्या? किसी तृषावन्त प्राणी को जल की स्मृति करनी पड़ती है क्या? जो नहीं करनी पड़ती, उसे स्मृति कहते हैं? या जो करनी पड़ती है, उसे स्मृति कहते हैं?

स्मृति आस्तिक दृष्टि से प्रेम की प्रतीक है और आध्यात्म दृष्टि से बोध की प्रतीक है। विमुखता के नाश में तीन बातें, स्मृति शान्ति की प्रतीक है, सामर्थ्य की प्रतीक है, दुःख निवृत्ति की प्रतीक है। जीवन से जो हम विमुख होगए हैं, उसी से दुःख है, अशान्ति है और उसी से असमर्थता आई है। असमर्थता, अशान्ति और दुःख वास्तविक जीवन की विमुखता से उत्पन्न हुए हैं। जब उसकी सन्मुखता होजायेगी, तब शान्ति, सामर्थ्य और दुःख-निवृत्ति सन्मुखता में हैं। और वह सन्मुखता और वह स्मृति हम सबको प्राप्त होसकती है। कब? उसके लिए तीन बातें— अगर आप भलाई नहीं कर सकते हैं तो कोई चिन्ता की बात नहीं, अगर आप किसी को भला नहीं समझते हैं, तो कोई चिन्ता की बात नहीं। भलाई भी मत कीजिए, भला भी मत समझिये लेकिन कृपानाथ! बुराई भी मत कीजिये, बुरा भी मत

समझिये। पहली बात—न हम किसी को बुरा समझेंगे, न किसी के साथ बुराई करेंगे। दूसरी बात—जो मिला हुआ है वह व्यक्तिगत नहीं है, उसकी ममता का त्याग। तीसरी बात—सुने हुए प्रभु में अविचल आस्था। प्रभु में—सुने हुए गुरू और ग्रन्थ में आस्था की बात नहीं कहता। प्रभु में जब आपकी अविचल आस्था होजायेगी, तब प्रभु-विश्वास की अभिव्यक्ति होगी।

मिली हुई वस्तु में जब आपकी ममता नहीं होगी, तब निर्विकारता प्राप्त होजायेगी। और जब आप किसी को बुरा नहीं समझेंगे, बुरा नहीं चाहेंगे, तब जो वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता है, उसका दुरुपयोग नहीं करेंगे। अर्थात् कर्त्तव्य परायणता आजायेगी। कर्त्तव्य परायणता, असंगता और तीसरी चीज आत्मीयता सफलता की कुंजी है। कर्त्तव्य परायणता कब प्राप्त होती है? जब किसी को बुरा नहीं समझते हैं, बुरा नहीं चाहते हैं, बुराई नहीं करते हैं—किसी भी शर्त पर। मिली हुई वस्तु को जब अपना नहीं मानेंगे, तब असंगता अपने आप आजायेगी। सुने हुए प्रभु में आस्था रखेंगे, तो प्रियता अपने आप आजायेगी। तीनों बातें अपने आप आजाती हैं प्रत्येक भाई में, प्रत्येक बहन में। जब ये तीनों बातें आजाती हैं, तब जीवन उपयोगी सिद्ध होजाता है। इसी का नाम है सिद्धि, इसी का नाम है शक्ति।

२२

साधक-मात्र को सावधानी से अपनी वस्तुस्थिति का ठीक अध्ययन करना चाहिये। असाधन के ज्ञान से असाधन का नाश होजाता है। साधन किया नहीं जाता, साधन होता है।

असाधन का जानना परम साधन है।

मानव-जीवन स्वभाव से ही बड़ा सुन्दर है, इसलिये कि बिना जाने परमात्मा को अपना मानता है और देखे हुए संसार को अपना नहीं मानता है। मानव अपने अधिकार का त्याग कर सकता है और दूसरों के अधिकार की रक्षा करता है। सत्य की जिज्ञासा जागृत होने मात्र से असत्य की वासना मिट जाती है। जहां प्रभु-विश्वास है वहां वस्तु-विश्वास नहीं है। आप सही करते हैं कि गलत करते हैं— इसमें जानने की महिमा है। सुनने की महिमा तो भगवत्-चरित्र सुनने में है।

करने वाली बात थी उसको किया नहीं, और जो होने वाली बात थी, उसको करने लगे। करने की श्रेणी में जितने कार्य आते हैं उन सबसे पहला कार्य है—"सत्संग"। सत्संग करने की बात है। ग्रन्थों से, प्रश्नोत्तरों से तथा व्याख्यानों से साधन-निर्माण नहीं हुआ। विचार-विनिमय की पद्धति से साधन-निर्माण करो। निश्चिन्तता के बिना सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होती और निर्भयता के बिना प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं होगा।

जो प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करता वही सच्चा साधक है।

सत्य की जिज्ञासा और लालसा सबल होनी चाहिये। इससे असत् की कामनाओं की जड़ कट जायेगी। लालसा और जिज्ञासा पूरी हो जायेगी।

२२

(अ)

अगर आप गम्भीरता से विचार करें, जो अपनी भूल होती है न! वह सावधान होने मात्र से अपने आप नाश होजाती है। सावधानी का अर्थ क्या है? कि जो हम कर रहे हैं, वह ठीक कर रहे हैं?—जहाँ इतनी बात आई कि असावधानी मिटने लगती है। जैसी-जैसी असावधानी मिटती जाती है, वैसे-ही-वैसे साधन की स्मृति अपने आप उदित होती जाती है। जैसे-ही-जैसे साधन की स्मृति उदित होती जाती है, वैसे-ही-वैसे असाधन का नाश होता जाता है। असाधन के नाश में कोई कठिनाई नहीं है। कठिनाई केवल यह है कि हम जो कुछ कर रहे हैं, उस पर ध्यान कम देते हैं, और जो कुछ हो रहा है, उस पर दृष्टि रखते हैं। इस बात को भूल जाते हैं कि भाई! जो कुछ हो रहा है, उसमें तो अपना हाथ है नहीं, और जो कुछ कर रहे हैं, उसमें अपना हाथ है। जिसमें अपना हाथ है, उस पर तो ध्यान दिया नहीं, और जिसमें अपना हाथ नहीं है, उसमें ध्यान दिया। अमुक व्यक्ति ने ऐसा क्यों किया? प्राकृतिक विधान से ऐसा क्यों हुआ? दूसरों ने ऐसा क्यों किया? और ऐसा क्यों हुआ?—इस पर हमारी दृष्टि रहती है।

उसका परिणाम यह होता है कि हम क्या कर रहे हैं—इस पर दृष्टि नहीं जाती। और जब तक हम क्या कर रहे हैं?

—इस पर दृष्टि नहीं जायेगी। तब तक हम आपसे पूछते हैं कि हम सही कर रहे हैं, अथवा सही नहीं कर रहे हैं—इस बात का ज्ञान ही कैसे होगा ? तो साधक के जीवन का पहला प्रश्न यह है कि हम क्या कर रहे हैं ?—इसका निरीक्षण करे। और हमारी माँग क्या है ?—इसको जाने। अपने वर्तमान कर्म को जाने, और अपनी आवश्यकता को जाने। वर्तमान कर्म में यदि कोई दोष है तो वह जानने-मात्र से मिट जायेगा और उसके मिटते ही कर्त्तव्य का ज्ञान होगा, ज्ञान। कर्त्तव्य के ज्ञान में कर्त्तव्य पालन की सामर्थ्य है। और कर्त्तव्य पालन में अपनी जो आवश्यकता है, उसकी पूर्ति की सामर्थ्य निहित है। आप विचार करें, क्या किसी साधक का वह कर्त्तव्य हो सकता है, जिसे वह न कर सके ? जरा ध्यान दीजिये, क्या आप कभी किसी से ऐसी आशा करते हैं, कि वह, वह करे, जो नहीं कर सकता ? मैं समझता हूँ कि शायद संसार में कोई भी व्यक्ति किसी से यह आशा कर ही नहीं सकता, कि तुम वह करो, जो नहीं कर सकते।

तो क्या प्रकृति के विधान में हमारा कर्त्तव्य कोई ऐसा होगा, जिसे हम न कर सकें ? ऐसा तो हो नहीं सकता। जब ऐसा नहीं हो सकता, तब कर्त्तव्य पालन में कठिनाई क्या है ? क्या यह हमारा और आपका मौलिक प्रश्न नहीं है ? क्या यह हमारा और आपका वर्तमान का प्रश्न नहीं है ? यदि यह वर्तमान का प्रश्न है, तो फिर आप बताइये, कि आपका जो कर्त्तव्य आपने जाना है, उसके पालन में आपको क्या कठिनाई है ?

बहुत से भाई-बहन यह कह दिया करते हैं, कि क्या

बतायें ! हमारा मन नहीं लगता।-बहुत ठीक बात। अगर आपको इस बात का ज्ञान हुआ है कि आपका मन नहीं लगता, तो यह तो एक बड़ी भारी चेतना आई न ! अब मन क्यों नहीं लगता ?—इसकी और खोज कीजिये। किसी और से मत पूछिये कि हमारा मन क्यों नहीं लगता। आप स्वयं ही खोज कीजिये, कि हमारा मन क्यों नहीं लगता ? तो आपको पता चल जायेगा कि किन-किन कारणों से मन नहीं लगता। उन कारणों का आप नाश कर दीजिये, आपका मन लग जायेगा। परन्तु ऐसा हम नहीं करते न ! हम दूसरों से पूछते हैं, कि हमारा मन क्यों नहीं लगता ? या यह पूछते हैं, कि हमारा मन कैसे लगे ? इसमें पूछने वालों की जो बात है. सो तो है ही है, सबसे अधिक तो बताने वालों ने ऐसी भूल की है महाराज ! कि चैन नहीं लेने देते सुनाते-सुनाते—ऐसा करो, ऐसा करो। और उधर—हम क्या करें ? हम क्या करें ? दोनों परेशान हैं गुरू और चेला। मुँह से तो कहते हैं कि हम गुरू नहीं हैं। लेकिन गुरू नहीं हो, तो गुरू का काम क्यों करते हो ? और आप शिष्य मानने को भी राजी नहीं हो ईमानदारी से। शिष्य नहीं बनते हो, तो पूछते क्यों हो ? जरा सोचिये, कि कोई रोगी किसी डाक्टर के पास जाय और कहे कि हमको यह बीमारी है, दवा दे दो। और फिर कहे कि देखो, तुम हमारे डाक्टर नहीं हो। और डाक्टर कहे, कि तुम हमारे रोगी नहीं हो। तो आप क्या कहेंगे ? कि दोनों पागल हैं। काम गुरू का करें और कहें, कि हम गुरू नहीं हैं। काम शिष्य का करें और कहें, कि हम शिष्य नहीं हैं। यह तो हमारी ईमानदारी है। – खैर ! जो कुछ भी हो, इससे मतलब नहीं।

हमारे कहने का तात्पर्य है, कि आप जो कुछ करते हैं, उसमें आपको यदि सन्तोष नहीं है, तो उसका करना बन्द क्यों नहीं होता ? जरा विचार कीजिये, कि हम जो कुछ कर रहे हैं, यदि वह हमारे लिये हमारी दृष्टि से सन्तोष-जनक नहीं है, तो स्वाभाविक नियम है कि जो करना सन्तोष-जनक नहीं है, उसका पहला साधन है कि उसको छोड़ दिया जाय, कि इसके करने से हमको कोई सन्तोष नहीं है। और जो कुछ आप करना चाहते हैं और वह नहीं कर पाते हैं, तो उसका पहला प्रभाव होता है, कि न करने की एक व्यथा जाग्रत होती है। अब जब हम अपने जीवन को देखते हैं, तो क्या देखते हैं ? कि जो कर रहे हैं, उसे सही भी नहीं मानते हैं, लेकिन छोड़ते भी नहीं हैं। और जो करना चाहते हैं, उसे कर भी नहीं पाते, और उसकी व्यथा भी नहीं। मैं पूछता हूँ, कि यह रोग किसी व्याख्यान से मिटेगा ? या किसी दूसरे के द्वारा मिटेगा ? इस रोग की चिकित्सा तो आपको ही करनी पड़ेगी, कि भाई ! जिसके करने से आपको सन्तोष नहीं है, पहला साधन है कि उसे छोड़ दो। डरो मत, बिल्कुल छोड़ दो। क्यों ? न करने में कोई पाप नहीं लगता महाराज ! कल्पना करो, जब तक आपको और कोई साधन न पता चले, तब तक आप यदि कुछ नहीं करेंगे, तो कोई हानि नहीं होगी। हानि होती है गलत करने से।

अब एक बात और देखने की है, और वह यह देखने की है कि जो आप करते हैं, उससे सन्तोष नहीं मिलता, उसे छोड़ने के बाद कहीं कोई गलत बात करना आरम्भ तो नहीं कर देते ? अगर गलत बात करना आरम्भ कर देते हैं, तब तो यह बात ही नहीं बनती, कि आप साधन करना चाहते हैं।

साधन करने की माँग हमें अकर्त्तव्य से रोक देती है। यह पहला काम है उसका। और कर्त्तव्य जानने के लिये आकुल कर देती है। कर्त्तव्य का ज्ञान सच पूछिये, तो प्रत्येक कर्त्ता में ज्यों-का-त्यों मौजूद है। ऐसी बात नहीं है कि हम कर्त्तव्य पालन चाहें, और उसका ज्ञान हमें न हो। अगर कर्त्तव्य का ज्ञान हममें नहीं है, तो हम कर्त्तव्य पालन कर ही नहीं सकते। और न हमारे सामने कर्त्तव्य पालन का प्रश्न आता है। कर्त्तव्य पालन का ज्ञान होने पर ही कर्त्तव्य पालन का प्रश्न आता है। अच्छा, दूसरी बात यह कि यदि करने की सामर्थ्य नहीं है, तब भी कर्त्तव्य का प्रश्न नहीं आता। लालसा होसकती है। जैसे कि निर्धन प्राणी के मन में दान देने की लालसा होसकती है। लेकिन उसे दान देना चाहिये—यह उसके मन में कभी नहीं आती। यही आती है कि जब कभी मेरे पास सम्पत्ति होगी, तो मैं दान करूँगा। तो सही बात करने की लालसा होती है, या सही बात की जाती है। जरा ध्यान दीजिये, सही बात की लालसा भी गलत बात की वासना को खा लेती है। और सही कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का जन्म नहीं होने देता।

इससे क्या सिद्ध हुआ? इससे यह सिद्ध हुआ कि जिसे साधन करना है, वह तो साधन कर ही सकता है। साधन करने में किसी प्रकार की असुविधा नहीं है, कठिनाई नहीं है, किन्तु जिसे साधन नहीं करना है, उसे दिन-रात आप साधन की बात सुनाइये और वह दिन-रात सुने, लेकिन साधन उससे नहीं होगा। हाँ, एक बात अवश्य है कि अगर कोई सुनाना अपना साधन मानले, और सुनना अपना साधन मानले, तब तो साधन हो ही रहा है। यह बात सिद्ध होगई कि भाई! हम साधन-निष्ठ हैं। क्यों? कोई कहदे कि हमारा सुनाना

साधन है। कोई कहदे कि हमारा सुनना साधन है। जब तक वह सुनाता रहेगा और जितने काल तक वह सुनता रहेगा —कम-से-कम इतने काल में असाधन तो नहीं आयेगा। इस बात को भी यदि आप साधन मानलें, तब तो बात ठीक। लेकिन आप जानते हैं ? आज का वक्ता अपने को मान लेता है कि मैं जानता हूँ और श्रोता को मान लेता है कि नहीं जानता है। यह साधन हुआ क्या ? यह तो मिथ्याभिमान हुआ। आज का श्रोता यह सोच लेता है कि चलो, थोड़ा सा समय कट गया। यह साधन हुआ क्या ?

कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि भाई, साधन कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसका क्षण-मात्र के लिये भी, अल्पकाल के लिये भी, साधक से उसका विभाजन होजाय। यानी साधन साधक से अलग होजाय, उसका नाम साधन नहीं है। तो जब साधन साधक से अलग होता ही नहीं, जरा सोचिये, तो असाधन आयेगा कहाँ से ? असाधन तब न ! आयेगा, जब साधक के जीवन में-से साधन कुछ काल के लिये भी अलग होजाय। मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि भाई, साधन का तो जीवन से सम्बन्ध है। साधन कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि आपने घण्टे-दो घण्टे साधन किया और फिर सोचा कि अच्छा, अब असाधन के लिये अवसर मिला। असाधन के लिये अवसर ढूंढ़ते रहना, या मिलता रहे, और हम साधन भी करते रहें, तब तो मेरा अपना यही विश्वास है कि साधन का आरम्भ ही नहीं हुआ। साधन का आरम्भ होने के बाद असाधन के लिये तो अवसर ही नहीं मिलता। जब असाधन के लिये अवसर ही नहीं मिलता, तब समस्त जीवन साधन हो जाता है। जब समस्त जीवन साधन हो जाता है, तब सिद्धि स्वाभाविक होने लगती है।

इसलिये भाई, हम सबको बड़ी ही सावधानी से अपने-अपने इस मूल प्रश्न पर विचार करना चाहिये कि हम जो कुछ कर रहे हैं, वह साधन है, या नहीं। यदि वह साधन है —बड़ी सुन्दर बात। यदि वह साधन नहीं है, तो उसका तो पहले त्याग कीजिये। गलत बात बिना छोड़े, सही बात होगी क्या ? नहीं हो सकती। इसलिये भाई, आज हमें और आपको बड़ी ही सावधानी से अपनी वस्तुस्थिति का ठीक-ठीक अध्ययन करना है, अर्थात् जानना है। आप सच मानिये, जितना हम अपने सम्बन्ध में ठीक-ठीक जानते जायेंगे, उतना ही हमें अपने जीवन में जो असाधन आगया है, उसका ज्ञान होता जायेगा। और जैसा-जैसा असाधन का ज्ञान होता जायेगा, वैसा-ही-वैसा असाधन नाश होता जायेगा। जैसे सूर्य के उदय-मात्र से अन्धकार मिट जाता है। जैसे बालक के रोने-मात्र से चोर भाग जाता है। वैसे ही असाधन के जानने-मात्र से असाधन का नाश हो जाता है। असाधन के नाश करने के लिये असाधन का ज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट साधन है।

आज दशा हमारी क्या होती है ? यदि कहीं असाधन का ज्ञान होगया, तो एकदम भयभीत होगये, और भयभीत होकर मान लिया कि हाय ! हाय !! हम तो बड़े ही बुरे व्यक्ति हैं। सोचो तो सही, असाधन के ज्ञान काल में आप बुरे व्यक्ति थे ? कि जब असाधन से तद्रूप थे, तब बुरे व्यक्ति थे ? अगर आप ईमानदार हैं, तो आपको मानना पड़ेगा कि जिस समय असाधन का ज्ञान हुआ, उस समय हम और आप बुरे व्यक्ति नहीं हैं। हम और आप बुरे व्यक्ति तब थे, जब हमें और आपको अपनी बुराई का ज्ञान ही नहीं था। बुराई के ज्ञान काल में कोई बुरा नहीं है। जब यह बात हम और आप मान लेंगे, तब क्या होगा ? कि बुराई के ज्ञान से बुराई नाश हो जायेगी। और बुराई का नाश होते ही,

भलाई तो अपने आप होती है। भलाई की नहीं जाती। मैं सच कहता हूँ आपसे, साधन किया नहीं जाता, साधन तो होता है। जो कुछ किया जाता है, उसमें कुछ-न-कुछ अंश असाधन का होता है। तो जब तक असाधन का अंश है जीवन में, तब तक साधन के द्वारा वर्तमान में सिद्धि होजाय — यह बात सम्भव नहीं है। इसलिये प्रत्येक साधक का परम पुरुषार्थ इसी में है कि वह अपने जीवन में असाधन यदि है, तो उसे जाने। असाधन का जानना परम साधन है। इस परम साधन के द्वारा हम सब साधन-निष्ठ हो सकते हैं। किन्तु इसका अर्थ कोई यह न समझ लें कि हम दूसरों की ओर देखें, कि देखें ! इनमें कितना असाधन है।

आज की दशा क्या है ? गुरु मानेंगे, महापुरुष भी मानेंगे, पर जहाँ उनके मन की बात पूरी न हुई, — क्या बतायें ! हमने इतनी स्वामी जी से प्रार्थना की, उन्होंने गोविन्द भवन आना स्वीकार नहीं किया। अरे भाई ! जरा सोचो तो सही, अरे, जिनका निर्णय तुमको प्रिय नहीं है, जरा सोचो, जिनके निर्णय में तुमको अविचल श्रद्धा नहीं है, उनके उपदेश से तुम्हारा क्या कल्याण होगा ? मैं आपसे पूछता हूँ, जब तुम उनसे स्वयं ही ज्यादा जानते हो, तब तो आपको यह कहना चाहिये कि हमारा उपदेश स्वामी जी ने नहीं माना, हमारा आदेश स्वामी जी ने नहीं माना। तो मैं आपसे पूछता हूं कि जिसको तुम स्वयं आदेश दे सकते हो, उपदेश दे सकते हो, उसके आदेश और उपदेश की आपको लेश-मात्र भी आवश्यकता नहीं है। और सच पूछिये, तो यही मानव-सेवा-संघ की नीति है कि प्रत्येक भाई स्वाधीन है अपने साधन करने में, समर्थ है अपने साधन करने में। मुझे तो इस बात से बड़ा हर्ष होता है कि

लोगों को अपने में विश्वास होगया, अपना काम पूरा होगया। अपनाकाम तो केवल इतना रह गया है कि आप लोग अपने में विश्वास करलें कि हम साधक हैं, साधन-निष्ठ हो सकते हैं, हमें सिद्धि मिल सकती है। इससे अधिक अपना कोई काम ही नहीं है।

कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि आप लोग साधन नहीं जानते हैं—ऐसी बात नहीं है। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि यहाँ जितने लोग बैठे हैं इस समय, हर भाई, हर बहन इतना साधन जानते हैं, जितना इस जोवन में वे नहीं कर सकते। और इतना जानते हैं, जितने की करने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी जो रुचि साधन सम्बन्धी चर्चा सुनने में है, वह रुचि साधन करने में नहीं है। क्यों नहीं है? कि हमारी और आपकी जो शक्ति है, वह सीमित है। तो सीमित शक्ति को साधन की चर्चा में ही व्यय कर दिया, तो फिर साधन करने के लिये सामर्थ्य कहाँ से लायेंगे? यदि साधन करने की सामर्थ्य आपमें शेष रहेगी, तभी न! आप साधन कर सकेंगे। इसलिये मेरा नम्र निवेदन है कि प्रत्येक साधक साधन सुनने में ज्यादा समय न लगाये, साधन करने में ज्यादा समय लगाये। और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह आपका निर्माण-निकेतन है। यह साधन सुनने के लिये नहीं है। साधन तो आपने बहुत सुना। आज कृपा है भगवान् की, कि सस्ता छापाखाना है। घर बैठे, पलंग के ऊपर, बिजली की रोशनी में, अच्छी-से-अच्छी बातें पढ़लो, सुनलो, सीखलो, समझलो। एक बात तो यह है।

दूसरी बात यह है कि आज हम लोगों को एक ऐसा भयंकर रोग लगा है, दूसरों के समझाने का, कि चाहे जिससे, जितना चाहें, समझ लो। एक दिन की बात मैं सुनाऊँ। मैं

मधुकरी माँग कर लौट रहा था और सामने से एक गधेड़ा गधे लेकर आरहा था। तो गधेड़े ने कहा—बाबा, बचो ! गधा आरहा है। मैंने कहा कि इस ओर से भी गधा आरहा है। उसने कहा – नहीं ! नहीं !! आप तो हमसे भी अच्छे हैं। गधेड़ा अपने को गधे से अच्छा मानता था। मैंने उससे पूछा कि तुम कैसे जानते हो कि मैं तुमसे भी अच्छा हूँ ? तो कहने लगा—मैं चिन्ता में रहता हूँ, तुम निश्चिन्त रहते हो। मैंने कहा—वाह गुरू महाराज ! वाह !! आप सच मानिये, उपदेष्टा-सारा संसार है। समस्त संसार आपको निरन्तर उपदेश दे सकता है। आज उपदेष्टा गुरू की लेश-मात्र भी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि कोई ऐसा वीर पुरुष हो, या वोर महिला हो, जो किसी उपदेश को स्वीकार कर सके। किन्तु हमारी बहुत-सी शक्ति सत्संग के नाम पर इसी में व्यय होती है कि हम उपदेश सुनें। बड़े-बड़े उत्सव होते हैं। मेरे पास बड़े पत्र आते हैं। होता क्या है ? उन उत्सवों में उपदेश सुनाने का कार्य होता है। करने वाला तो यह सोचता है कि हमने इतना बड़ा भारी उपदेश कराने का प्रयास किया, ज्ञान-यज्ञ होगया। और सुनने वाले कहते हैं - देखिये, हमने कितना पैसा दिया ! कितना समय दिया ! और जब मन्त्री सभा में खड़े होकर कह देता है – आपको भी धन्यबाद ! और आपको भी धन्यवाद ! बस समझ लेते हैं कि इस उत्सव का जितना फल होना चाहिये था, वह पूरा होगया।

भाई, मानव-सेबा-संघ इस पद्धति का आदर नहीं करता। क्यों आदर नहीं करता ? इसलिये आदर नहीं करता कि प्रभु की अहैतुकी कृपा से आपका जीवन स्वभाव से ही इतना सुन्दर है कि सच मानिये, अगर मैं यह कह दूँ कि अनन्त ने आपको

अपने खेलने के लिये बनाया है, तो इसमें लेश-मात्र भी अत्युक्ति नहीं होगी। जरा सोचिये तो सही, मानव-जीवन ही तो ऐसा जीवन है कि जो उस पर विश्वास करता है, जिसको इन्द्रियों के द्वारा, बुद्धि के द्वारा नहीं जाना। कितनी अलौकिक बात है! किसी से कहो कि देखो, जिसे तुम नहीं जानते, उस पर विश्वास करो। कोई कर सकता है? लेकिन मानव में यह सामर्थ्य है कि जिसको नहीं जाना है, उस पर विश्वास कर सकता है। और जरा सोचो, मानव में ही यह सामर्थ्य है कि जो जानने में आता है, कहता है—यह ठीक नहीं है, मिथ्या है। जरा सोचिये तो सही, जो जानने में आता है वह मिथ्या है, यह सामर्थ्य दी प्रभु ने। और जिसको नहीं जाना, वह हमारा है, यह सामर्थ्य मानव को दी। और जरा सोचिये, कौन ऐसा व्यक्ति है? जिस पर दूसरे लोग अपना अधिकार नहीं मानते। आपने कोई व्यक्ति ऐसा देखा है? जिस पर दूसरे लोग अधिकार नहीं मानते। तो दूसरों के अधिकार को रक्षा करने की सामर्थ्य भी मानव ही में है। और अपने अधिकार के त्याग की सामर्थ्य भी मानव में ही है। इन्द्रियों द्वारा जाने हुए में मिथ्या-बुद्धि, जिसको नहीं जानते हैं, उसमें अविचल श्रद्धा, दूसरों के अधिकार की रक्षा, अपने अधिकार का त्याग, क्या आपके-हमारे जीवन में सम्भव नहीं है? —सम्भव है। तो सोचिये, कि प्रभु ने कितना सुन्दर जीवन मानव-जीवन बनाया है! कि जिस कार्य को मानव से भिन्न कोई कर ही नहीं सकता।

परन्तु आज जो आश्चर्य की बात है, वह यह है कि हम अपने महत्व को नहीं जानते। किसके महत्व को जानेंगे? बोले, वस्तुओं में बड़ा महत्व है। और किसको जानेंगे? कि पद में बड़ा महत्व है। बोले, और किसको जानेंगे? कि संग्रह में बड़ा

महत्व है। आप सोचिये, संग्रह के महत्व में आपकी रुचि है, वस्तु के महत्व में आपकी रुचि है, पद के महत्व में आपकी रुचि है। तो मैं आपसे पूछता हूँ कि प्रभु में रुचि आपमें कहाँ से आयेगी ? रुचि तो एक ही है न! चाहे इधर लगाओ, चाहे उधर लगाओ। तो आज मौलिक प्रश्न यह है कि आपकी अपनी रुचि क्या है ? अगर आपकी रुचि सत्य की खोज करने की है, तो सत्य की खोज की रुचि-मात्र से असत्य का नाश होता है महाराज ! जहाँ सत्य की जिज्ञासा जाग्रत हुई कि असत् की कामना नाश हुई। अब आप सोचिये, कि क्या आज हम सत्य की जिज्ञासा भी नहीं कर सकते ? यदि कर सकते हैं, तो क्या सत्य की जिज्ञासा और असत् की कामना एक साथ रह सकती हैं ? यदि एक साथ रह सकती हैं, तो आपको यह मानना पड़ेगा कि सूर्य का उदय भी है और अन्धकार भी है। लेकिन कोई विज्ञानवेत्ता इस बात को मानेगा ? आप इस बात को मानेंगे ? नहीं मानेंगे। जरा सोचो, फिर आप कैसे मानते हैं ? कि सत्य की जिज्ञासा भी है और असत् की कामना भी है।

अगर आप यह मानते हैं कि सत्य की जिज्ञासा के साथ-साथ असत् कामना भी है, तो कहना पड़ेगा कि सत्य की जिज्ञासा के नाम पर किसी असत् का ही भोग करना चाहते हैं। नहीं तो भाई, जहाँ सत्य की जिज्ञासा है, वहाँ असत् की कामना नहीं है। जहाँ प्रभु में विश्वास है, वहाँ वस्तु में विश्वास नहीं है। जहाँ प्रभु से सम्बन्ध है, वहाँ देह से सम्बन्ध नहीं है। अब ये बातें क्या हमारे लिये भविष्य में पूरी होने वाली हैं ? या वर्तमान से सम्बन्ध रखती हैं। जरा सोचिये, सत्य की जिज्ञासा वर्तमान की वस्तु, प्रभु-विश्वास वर्तमान की वस्तु, वस्तु-विश्वास का त्याग वर्तमान की वस्तु। अब इन बातों के पूरा करने में

हमें-आपको क्या कठिनाई मालूम होती है ? यदि उस पर आप चर्चा करते, तो सचमुच मैं यह मान लेता कि हमारे मन में सत्संग की रुचि है। लेकिन इस पर तो चर्चा करते नहीं। आप तो श्रवण का सुख लेते हैं। श्रवण का जो सुख है, वह मालूम है, किस सम्बन्ध में कहा गया है ? श्रवण की महिमा मालूम है, किस सम्बन्ध में कही गई है ? प्रभु के चरित्र के सम्बन्ध में, प्रभु की महिमा के सम्बन्ध में। श्रवण की महिमा इस बात के लिये नहीं कही गई, कि संसार सत्य है कि असत्य है, आप सही काम करते हैं कि गलत काम करते हैं। इस सम्बन्ध में तो जानने की बात कही गई है।

सुनने की बात की जो महिमा है, वह प्रभु की महिमा में है। तो प्रभु की महिमा को तब न ! सुनने में चित्त लगेगा, जब प्रभु की सत्ता को स्वीकार कर लो। यदि प्रभु की सत्ता स्वीकार कर ली है, तो उसमें विश्वास होगा कि नहीं ? जब उसमें विश्वास होगा, तब उससे सम्बन्ध होगा कि नहीं ? जब उससे सम्बन्ध होगा, तब उसकी स्मृति उदय होगी कि नहीं ? तो प्रभु की स्मृति उदय होती है। आप क्या कहते हैं कि हम भगवान् का भजन करते हैं। जो होने वाली बात थी, उसे तो आपने करना आरम्भ कर दिया। जो करने वाली बात थी, बोले, उसका त्याग कर दिया। जरा ध्यान दीजिए, करने वाली बात का होजाय त्याग, और होने वाली बात को लगे करने, तो दोनों ओर से सर्वनाश होगा कि नहीं ? वही आज की दशा है। भजन करते हैं, और भजन होता नहीं। क्यों ? भजन तो होने वाला था भाई ! करने वाली बात भजन नहीं था। जो होने वाला था, उसे हम करने का प्रयास करते हैं। करने वाली बात थी "सत्संग।" जो करने वाली बात थी, उसको होनहार पर छोड़ दिया। कैसे होनहार पर छोड़ दिया ? अगर होनहार पर

नहीं छोड़ दिया, तो आपने अपने जाने हुए जिस असत् को "असत्" जाना, क्या उस असत् को त्याग करके दूसरा कार्य आरम्भ किया ?

इस दृष्टि से आपने सत्संग किया ? जरा ध्यान दीजिये, कि जिस बात को आपने असत् जान लिया कि यह बात असत् है, है, तो उसका त्याग करने से पूर्व, आपने दूसरा कार्य आरम्भ कैसे कर दिया ? तात्पर्य कि पहला कर्त्तव्य है—सत्संग। दूसरा कर्त्तव्य नहीं है। किससे पहले ? कि रोटी खाने से पहले, पानी पीने से पहले, निद्रा लेने से पहले, व्यापार करने से पहले, यानी जितने कार्य आप करते हैं, करने की श्रेणी में जितने कार्य आते हैं, उन सब कार्यों से पहला कार्य है "सत्संग।"

२२

(ब)

सत्संग करो। अगर आपने सत्संग कर लिया, तो असत् का त्याग हो जायेगा, और अकर्त्तव्य का जन्म ही नहीं होगा। जब अकर्त्तव्य का जन्म ही नहीं होगा, तब आप कर्त्तव्यनिष्ठ हो जायेंगे। सत्संग का फल क्या हुआ ? कि प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन कर्त्तव्यनिष्ठ होजाय। तो क्या कर्त्तव्यनिष्ठा भविष्य की वस्तु है ? मैं आपसे पूछता हूं, कर्त्तव्यनिष्ठता यदि भविष्य की वस्तु है, तो वर्तमान की क्या है भाई ? अकर्त्तव्य ? इससे तो यही सिद्ध हुआ कि अगर कोई भाई यह जानता है कि कर्त्तव्यपरायणता भविष्य की वस्तु है, तो वर्तमान में अकर्त्तव्य को स्वीकार करना पड़ेगा। अकर्त्तव्य जब वर्तमान में है, तो भविष्य वर्तमान से बनेगा कि किसी और से ? आपको मानना पड़ेगा कि भविष्य वर्तमान के आधार पर ही बनता है। यदि वर्तमान में अकर्त्तव्य है, तो भविष्य में कभी कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं बन सकते।

इसलिये भाई ! बड़ी ही सावधानी के साथ हमें और आपको सत्संग करना है। सत्संग करने की बात है, भजन होने की बात है। भजन करने की बात नहीं है। ध्यान करने की बात नहीं, स्मरण करने की बात नहीं, चिन्तन करने की बात नहीं। प्रीति करने की बात नहीं, योग करने की बात नहीं, बोध करने की बात नहीं, वह अपने आप होता है। करने की

बात है—सत्संग। क्यों? कर्त्तव्य के साथ-साथ पुरुषार्थ आता है। होने के साथ-साथ पुरुषार्थ नहीं आता है। तो भाई! समस्त पुरुषार्थ किसमें लगाना है? कि भाई! सत्संग में। किस सत्संग में? इस सत्संग में नहीं कि आप एक सद्ग्रन्थ की कथा सुन रहे हैं बैठे-बैठे। यह तो स्वाध्याय है, सत्संग नहीं है। सत्संग का असली अर्थ है कि आपका अपना जाना हुआ असत् क्या है? उसे प्रकट करना। प्रकट करके उस पर विचार करना। विचार करके उसका त्याग करना। तीन श्रेणी सत्संग की होती हैं—अपने असत् को जानलो और उसको प्रकट करदो, फिर उस पर विचार करलो, और फिर उसका त्याग करदो।

इस प्रकार हम और आप एक बार सत्संग करलें, तो मेरा अपना विश्वास है कि फिर दुबारा सत्संग करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। क्यों? असत् का जो त्याग है, वह फिर बार-बार नहीं करना पड़ता। एक बार किया हुआ सदा के लिये परिपक्व होजाता है। किन्तु आज ऐसा नहीं कर पाते। क्यों नहीं कर पाते? क्योंकि, हम पुरुषार्थ करते हैं भजन के करने में। लेकिन करते कब हैं? सत्संग के बिना करते हैं। तो सत्संग के बिना किया हुआ भजन सार्थक सिद्ध नहीं होगा। सत्संग के बिना किया हुआ विचार सजीव नहीं होगा। इसलिये आज का जो मौलिक प्रश्न है, वह है "सत्संग" करने का। सत्संग करने का अर्थ जो मैंने समझा है, जिसे अनेक बार अनेक ढंग से सेवामें निवेदन किया है, वह केवल इतना है कि आप लोग कोई भी अपना जाना हुआ असत् अपने सामने रखें।

इसी बात को चरितार्थ करने के लिए विचार-विनिमय की पद्धति निकाली। इससे पूर्व हमारी पुरानी प्रथा में प्रश्न-

उत्तर की पद्धति थी। प्रश्न-उत्तर की पद्धति कब तक सफल रही ? जब तक श्रोता और वक्ता के बीच में स्नेह और श्रद्धा का सम्बन्ध रहा, आज्ञा पालन की सामर्थ्य रही। आज आप भाई मुँह से भले कहदो, आज्ञा पालन की सामर्थ्य नहीं है। श्रोता और वक्ता के बीच में स्नेह और श्रद्धा का सम्बन्ध नहीं है। आप यह न सोचिये कि मैं अपने सम्बन्ध में कहता हूं। जिनमें आप अपनी श्रद्धा बताते हैं, उन्हीं की बात आप नहीं मानते हैं। यह आप अपने जीवन से देखिये। तो ऐसे समय में मानव सेवा संघ की नीति यह हुई कि भाई ! देखो, अब जैसी श्रद्धा होनी चाहिये श्रोता में, वैसी नहीं है, और जितनी उदारता होनी चाहिये वक्ता में, उतनी नहीं है। ऐसी परिस्थिति में परस्पर विचार-विनिमय द्वारा जो सत्संग है, वही हितकर सिद्ध होसकता है। किन्तु भाई ! मैंने अभी तक उस पद्धति को सार्थक नहीं देखा, न यहाँ, न दूसरी जगह। उसका कारण क्या है ? उसका एक-मात्र कारण यह है कि अगर हम विचार-विनिमय के लिये बैठते हैं, तो उपदेश करने लगते हैं। और श्रोता लोग यह सोचते हैं कि प्रश्न तो हमारा हो, करे कोई दूसरा, और उत्तर हम सुनलें। क्यों ? अगर यह मालूम होगई कि हमारे जीवन में भी असत् है तो उससे हमारी बड़ी निन्दा होजायेगी। असत् के बनाये रखने से हमारी निन्दा नहीं होती ! लेकिन असत् के प्रकट करने में हमारी निन्दा होती है ! यह दुर्बलता जब तक रहेगी, हम सत्संग नहीं कर सकते।

इसलिये भाई ! विचार-विनिमय करो। विचार-विनिमय का अर्थ है कि अपने असत् के सम्बन्ध में, जिसका कि हम त्याग नहीं कर सके हैं, अपने साथियों से निरभिमानता पूर्वक

परामर्श लें। विचार-विनिमय का मतलब है परामर्श। यह नहीं, कि आप उनकी आज्ञा मान ही लें। क्योंकि यह सामर्थ्य आपमें होती, तब तो प्रश्न-उत्तर वाली पद्धति से हम और आप साधन का निर्माण कर लेते। लेकिन आज प्रश्न-उत्तर वाली पद्धति साधन-निर्माण करने में समर्थ नहीं है। आप कहेंगे कि आप कैसे मानते हैं? मैं इसलिये मानता हूं कि बीसियों वर्ष से वही प्रश्न और वही उत्तर। वक्ता उत्तर देता रहता है, श्रोता उसी उत्तर को सुनता रहता है। और समस्या ज्यों-की-त्यों रहती है। आज का समय प्रश्न-उत्तर द्वारा साधन-निर्माण का नहीं रहा। व्याख्यान द्वारा भी साधन-निर्माण नहीं हुआ। ग्रन्थों के द्वारा भी, सच पूछिये, तो साधन-निर्माण नहीं हुआ। नवीन ग्रन्थ बनते चले जाते हैं। मुझ जैसा बेपढ़ा-लिखा भी अनेक ग्रन्थ लिख चुका है। तो भाई! ग्रन्थों के द्वारा भी साधन का निर्माण नहीं हुआ, प्रश्न-उत्तर द्वारा भी साधन-निर्माण नहीं हुआ, व्याख्यान द्वारा भी साधन-निर्माण नहीं हुआ।

इसलिये आज आवश्यकता है कि परस्पर विचार-विनिमय द्वारा साधन-निर्माण करें। तो साधन-निर्माण बिना किये, जो हम साधन करने लगते हैं, उसी साधन में अनेक विघ्न मालूम होते हैं, अनेक कठिनाइयाँ मालूम होती हैं। और जब साधन-निर्माण के द्वारा हम साधन करेंगे, तो आप सच मानिये, कोई कठिनाई नहीं होगी। तो साधन-निर्माण के लिए सबसे सुगम बात है—परस्पर विचार-विनिमय। अगर आप यह कहें कि हम अपने असत् को अपने प्रिय जनों के सामने रखेंगे, तो हमारा आदर नहीं रहेगा। बहुत ठीक बात। अगर आपको इतना ध्यान है कि हमारा आदर बना रहे, तो उस असत् को निकाल दो। प्रश्न ही नहीं आयेगा। लेकिन अपने जाने हुए असत् का

त्याग भी न कर सको, प्रकट भी न कर सको, और आदर भी चाहो। तो आप सच मानो, कि धीरे-धीरे जो आप अनादर से बचना चाहते हो, यह बहुत बड़े अनादर की तैयारी है। धीरे-धीरे जो आप दुःख से बचना चाहते हैं, यह एक बड़े दुःख की तैयारी है।

इसलिये भाई! हर भाई, हर बहन को निश्चिन्त होकर, निर्भय होकर अपने जाने हुए असत् को प्रकट करने की सामर्थ्य उत्पन्न करनी चाहिये। जिस समय आप अपने जाने हुए असत् को प्रकट कर सकेंगे, सच मानिये, दूसरे लोगों के मन में भी साहस होगा। जब साहस होगा तब दूसरे लोग भी प्रकट करेंगे। जहाँ सभी लोग एक पद्धति को मानने लगते हैं, तो फिर अनादर का भय जाता रहेगा। लेकिन होता क्या है? हमारे दो-एक साथी ने इस बात की कोशिश की। उन्होंने अपने में उनकी जानी हुई जो निर्बलता थी, उसको प्रकट करने का साहस किया। और किसी ने तो दूसरे की निर्बलता को अपने में आरोप करके प्रकट किया। दोनों प्रकार के साथियों ने काम किये। लेकिन नतीजा क्या निकलता है, उसका कि जो सुनता है और जिससे परामर्श लेते हैं; तो वह तो उपदेश करने लगता है। और इस ईमानदारी को नहीं कहता कि भाई! देखो, तुममें जो निर्बलता है, वह है तो मुझमें भी—ऐसा नहीं कहता। वह एक प्रमाण सुनाता है, ऐसा बढ़िया समाधान, और उपदेष्टा बनता है। तो फिर उस साथी की दशा क्या होती है? कि भाई! जिस भावना से हमने यह कार्य आरम्भ किया था, न तो कोई मौलिक उत्तर देता है, और न यह कहता है कि हममें भी यह निर्बलता है। तो करता क्या है? कि सीखे-सिखाये दिमागी रिकार्ड से एक बहुत बढ़िया लैक्चर सुना देता है। फिर उसका दुबारा साहस नहीं होता।

तो कहने का मेरा तात्पर्य यह था, कि आज क्या आप विचार-विनिमय करने को राजी हैं ? यदि विचार-विनिमय करने को राजी हैं, तो आप सच मानिये, हम सबका साधन-निर्माण होसकता है। इसमें हम और आप असमर्थ नहीं हैं, समर्थ हैं। किन्तु दुःख की बात है कि हम अपने जाने हुए असत् को प्रकट ही नहीं कर पाते। और कहीं प्रकट कर भी दें एकान्त में, और वह उपाय बताये, तब पीछे से कहते हैं—यह हो नहीं सकता। इसका अर्थ क्या है ? कि असत् से उत्पन्न होनेवाला जो सुख है, उसका प्रलोभन नाश नहीं होता, किन्तु असत् के परिणाम से जो होने वाला दुःख है, उसका भय हो जाता है। तो भय-युक्त-प्रलोभन ! जरा सोचिये। नियम क्या है ? नियम यह है कि प्रलोभन से ही भय की उत्पत्ति होती है। तो हम प्रलोभन रखना चाहते हैं और भय को मिटाना चाहते हैं। वह मिटता नहीं है। होता यह है कि किसी-न-किसी प्रकार का प्रलोभन भी बना रहता है और भय भी बना रहता है। तो भयभीत होकर, जो शक्ति मिली है, उसका नाश करते रहते हैं। क्यों ? निर्भयता के बिना, मिली हुई शक्ति का सद्व्यय हो ही नहीं सकता। और प्रलोभन का त्याग करने से घबराते हैं।

अरे भाई ! देखिये, आपके पास सुख तो रहा नहीं, क्योंकि सुख रहता, तो प्रलोभन नहीं रहता। सुख के भोग-काल में सुख का प्रलोभन नहीं होता। सुख का प्रलोभन कब होता है ? जब सुख चला जाता है। जरा सोचिये, जिस सुख का हम और आप प्रलोभन रखते हैं, वह सुख तो चला गया, तो क्या प्रलोभन रखने से सुख मिल सकेगा ? कदापि नहीं मिलेगा। किन्तु यह बात स्पष्ट कब होती है ? जब हम-सब सरलापूर्वक, निर्भय होकर, अपने प्रलोभन को प्रकट करदें। जब हम अपने प्रलोभन को प्रकट कर देंगे, तब वह प्रलोभन निर्जीव होजायेगा।

इसके सम्बन्ध में एक दूसरा उपाय सोचा गया एक बार, कि भाई ! कोई बात नहीं है। अगर तुम दूसरों के सामने अपने प्रलोभन को प्रकट नहीं कर सकते, तो उसका चिन्तन मत करो। उसको बैठ कर एकान्त में लिख डालो। तब क्या होता है ? एक दिन लिखेंगे बड़े उत्साह के साथ। और लिखने के बाद दुबारा फिर वही बात आयेगी, तब दूसरे दिन उस बात को नहीं लिखेंगे। और घबराकर उठकर बैठ जायेंगे—अरे भाई ! इससे भी कोई लाभ नहीं हुआ। चाहते क्या है ? कि साधन के नाम से जो कुछ आरम्भ करें, साधन आरम्भ करते ही, एकदम सिद्धि होजाय। सो भाई ! सिद्धि नहीं होती। साधन की पूर्णता में सिद्धि होती है अथवा असाधन के त्याग में सिद्धि होती है। तो असाधन का त्याग कर नहीं पाते, और सिद्धि चाहते हैं।

इसलिए भाई ! आप चाहे जो करें, इसमें आप स्वाधीन हैं। किन्तु जब तक हम और आप अपने जाने हुए असत् को प्रकट नहीं करेंगे, उसका त्याग नहीं करेंगे, तब तक भाई ! सत् का संग नहीं होगा, तब तक साधन की अभिव्यक्ति नहीं होगी। जब तक साधन की अभिव्यक्ति नहीं होगी, तब तक न जीवन में निर्भयता आयेगी, न निश्चिन्तता आयेगी। और जब तक निश्चिन्तता व निर्भयता नहीं आयेगी, तब तक जरा सोचिये तो सही, आप कर्त्तव्यनिष्ठ हो ही कैसे सकते हैं ? क्यों ? निश्चिन्तता के बिना आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होती और निर्भयता के बिना प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय नहीं होता। यही न ! दो साधन हैं। साधक के ये दो मुख्य अग हैं, कि जो सामर्थ्य प्राप्त है, उसका तो सद्व्यय हो जाय, और जो प्राप्त नहीं है, वह प्राप्त हो जाय। आप विचार कीजिये, क्या प्रत्येक साधक की यही मांग नहीं है ? आज जो हम अपने जीवन में असमर्थता अनुभव करते हैं, वह नाश हो जाय, अथवा

यों कहो, सामर्थ्य आ जाय। और जो सामर्थ्य मौजूद है, उसका दुरुपयोग न हो। दो ही प्रधान अंग हैं साधक के। जो प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करता, वही सच्चा साधक, और जिसमें अपने आप सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होने लगती है, वह साधक।

तो आप सच मानिये, सामर्थ्य-दाता थका नहीं है सामर्थ्य देने से। क्योंकि वह अनन्त है, और देना उसका स्वभाव है। किन्तु आज हमारे जीवन में फिर भी असमर्थता है। जरा सोचिये, सामर्थ्यदाता अनन्त हो, और देना उसका स्वभाव हो; फिर भी हमारे जीवन में असमर्थता है। उसका कारण क्या है ? उसका कारण यह नहीं है कि आपको दण्ड दिया गया है है कि आपको सामर्थ्य नहीं मिलेगी। उसका कारण एक-मात्र यह है कि हम निश्चिन्त नहीं होते, निर्भय नहीं होते। और निर्भय न होने के कारण मिली हुई सामर्थ्य का सद्व्यय नहीं करते। इसलिये भाई, अगर सचमुच आपको साधन-निर्माण करना है, अथवा यों कहो कि साधननिष्ठ होना है, अथवा यों कहो, कि सिद्धि पाना है, तो भाई, जो सामर्थ्य आपको प्राप्त है, उसका सद्व्यय कीजिये निश्चिन्त होकर, निर्भय होकर। जैसी-जैसी निश्चिन्तता दृढ़ होती जायेगी, वैसे-ही-वैसे आवश्यक सामर्थ्य बिना ही माँगे मिलेगी। और इतनी उदारतापूर्वक मिलेगी कि वह दाता कभी आपको यह नहीं बतायेगा कि हमने आपको दी। जैसे, हम लोग किसी की सहायता करते हैं, तो पहले तो अपने मन में सोचते हैं कि हमने सहायता की, फिर अपने मित्रों से कहते हैं कि हमने सहायता की। तब भी नहीं पेट भरता, तो पेपर्स में निकालते हैं कि हमने सहायता की।

एक हमको दानवीर मिले महाराज ! तो मालूम है, उन्होंने हमको क्या भेंट किया ? एक अपनी वह किताब भेंट की, जिसमें उन्होंने अपने दान की चर्चा लिखी थी। दान करोड़ों रुपयों का

था, इसमें सन्देह नहीं। मेरे मन में सचमुच उनके दान का बड़ा आदर है। लेकिन, भेंट क्या किया ? कि आप इस बात को जानलें कि हम बड़े दानवीर हैं। हम उनसे पूछते हैं कि जिस सूर्य ने प्रकाश दिया, उस सूर्य ने भी कभी किताबें लिख कर दीं ? कि हम दानवीर हैं। जो वायु तुम्हें स्वांस लेने देती है, उसने भी कभी अपने दान की महिमा प्रकट की ? जरा ध्यान दीजिये, जिस आकाश ने तुम्हें अवकाश दिया, उसने भी कभी कहा ? कि हमने कुछ दिया। उन्होंने कभी नहीं कहा।

कहने का तात्पर्य था कि आज इस बात की आवश्यकता नहीं है कि आपने जिस उदारता से दूसरों की सहायता की है, और अपना उन पर मालूम है क्या ?—अपना आतंक छा दिया है आतंक, प्रभुत्व-महिमा छादिया है, कि हमने आपके साथ यह उपकार किया। तो आप न डरें। वह जो दाता है, वह इतना उदार है कि अपना प्रभुत्व, आप पर नहीं जमायेगा, अपनी महिमा आप पर नहीं जमायेगा। कभी एक बार भी नहीं कहेगा कि हमने दिया। इतना ही नहीं, आपको यह मालूम होगा कि यह सामर्थ्य हमारी अपनी ही है, यह योग्यता हमारी अपनी ही है। आप सोचिये, ऐसे दाता के रहते हुये आज हमारा-आपका जीवन असमर्थता में पड़ा रहे ! कितने प्रमाद की बात है ! कितनी भूल की बात है !

इसलिये भाई, अगर आपको सचमुच साधन-निर्माण करना है, तो सत्संगी होना पड़ेगा। और अगर सत्संगी होना है, तो अपने जाने हुये असत् का त्याग करना पड़ेगा। और यदि आप स्वयं अपने जाने हुए असत् का त्याग नहीं कर सकते, तो परस्पर में उसको प्रकट करके, उस पर विचार करना पड़ेगा। जब तक हम और आप इस नीति को नहीं अपनायेंगे, मेरा तो ऐसा विश्वास है कि जाने हुए असत् का त्याग नहीं हो सकेगा। जब तक जाने हुए असत् का ही त्याग नहीं होगा, तब तक सोचिये

तो सही; सत् का संग ही कैसे होगा ? जब तक सत् का संग नहीं होगा, तब तक साधन की अभिव्यक्ति नहीं होगी। इसके पश्चात् अगर आप यह कहें कि विचार-विनिमय की तो अभी हममें सामर्थ्य नहीं है। तो उसका एक और उपाय है, वह यह कि हमारे और आपके हृदय में थोड़ी-थोड़ी देर बाद सत्य की जिज्ञासा, अथवा लालसा जाग्रत होनी चाहिए थोड़ी-थोड़ी देर बाद। जैसे, प्यासे आदमी को किसी काम में लगा दिया जाय, तो उसे थोड़ी-थोड़ी देर बाद पानी की स्मृति आती है, उसी प्रकार थोड़ी-थोड़ी देर बाद सत्य की जिज्ञासा जाग्रत रहे—वह कौनसा क्षण होगा ! जब मैं सत्य को प्राप्त करूँगा, और मुझे सत्य अवश्य मिल सकता है। क्योंकि अगर आपको सन्देह है कि मुझे सत्य नहीं मिल सकता, यदि आपने अनाधिकारी स्वयं मान लिया है, तो सत्य भी आपको सत्य नहीं दे सकता। आप निश्चिन्त रहिये।

अगर आपने अपने को अनाधिकारी नहीं माना है और यह मान लिया है कि यह मानव-जीवन सत्य की खोज के लिये मिला है, सत्य की प्राप्ति के लिए मिला है। अगर आपने यह बात स्वीकार कर ली है, तो सच मानिये, सत्य की जिज्ञासा, सत्य की लालसा स्वतः जाग्रत होगी। आप कहेंगे कि ये दोनों बातें क्यों कहते हैं। तो भाई सत्य की जिज्ञासा तो कहते हैं उन साधकों के लिए, जो असत्य को जानकर सत्य को जानना चाहते हैं, और सत्य की लालसा कहते हैं उन साधकों के लिए, जो सत्य को मानकर सत्य को प्राप्त करना चाहते हैं। तो भाई, चाहे आप सत्य की जिज्ञासा वाले साधक हों, चाहे सत्य की लालसा वाले साधक हों, लेकिन जिज्ञासा और लालसा सबल होनी चाहिए, स्ट्रोंग होनी चाहिए। और बार-बार उसकी अभिव्यक्ति होनी चाहिए। बार-बार उठे—वह कौनसा क्षण होगा ! वह कौनसा काल होगा ! जब मैं अपने सत्य को

जानूँगा अथवा अपने सत्य में निवास करूँगा। इस प्रकार की जो लालसा है, वह धीरे-धीरे असत् की कामनाओं की जड़ काट देगी। और जैसे-जैसे असत् की कामना नाश होती जायेगी, वैसे-वैसे सत्य की जिज्ञासा अथवा लालसा पूरी होती जायेगी। जिस क्षण में सर्वांश में असत् की कामना नाश हो जायेगी, उसी क्षण में सत्य की लालसा, अथवा सत्य की जिज्ञासा पूरी हो जायेगी। यह भी विधि है सत्संग करने की।

गम्भीरता से सोचिये, क्या आज हम उसकी लालसा भी नहीं कर सकते जिसको चाहते हैं? —कर सकते हैं। किन्तु असत् की कामनाओं से भयभीत होगये हैं। आप ध्यान दीजिये, बहुत गम्भीरता से विचार कीजिये, कोई कामना इतनी सबल नहीं हो सकती, जो आपसे सबलहो। क्योंकि आपकी कामना है। कामना को जन्म आपने दिया है। आपने उसको स्वीकार किया है कि यह मेरी कामना है। तो कामना उस पर कभी शासन नहीं कर सकती जिसकी वह कामना। क्यों? कामनायें अनेक होती हैं। अनेक होने पर भी जिसमें कामना होती हैं, उसके किसी एक अंश में रहती हैं। यह वैज्ञानिक सत्य है कि कामनायें कितनी ही हों, किन्तु जिसमें वे रहती हैं, उसके किसी एक अंश में रहती हैं। यदि ऐसा न होता, तो कामना का ज्ञान ही न होता। तो कामना का ज्ञान इस बात को सिद्ध करता है कि जिसमें वे निवास करती हैं, उसके किसी एक अंश से होती हैं। जो चीज किसी एक अंश में है, वह उसको ढक नहीं सकती। वह उस पर सदा के लिये विजयी नहीं हो सकती। करती क्या है? कि कामना आपकी सत्ता से ही आप पर शासन करती है।

जिस समय आपने यह संकल्प किया कि भाई, यह तो कामना त्याग करने योग्य है, इसका तो त्याग करना है। लेकिन कामना-पूर्ति-जनित जो सुख है, वह त्याग करने में हमें समर्थ नहीं होने देता, तो कोई चिन्ता नहीं। जिस समय आप त्याग करने की

सोचेंगे, उसी समय वह कामना निर्जीव होगी। और जैसे-जैसे यह लालसा आपकी बढ़ती जायेगी कि मुझे कामना-रहित होना है, मैं बिना कामना-रहित हुए रह ही नहीं सकता। आप सच मानिये, सभी कामनायें अपने आप नाश हो जायेंगीं। कामना-रहित होने की लालसा, जरा ध्यान दीजिये क्या हम नहीं कर सकते ? क्या उसे हम सुरक्षित नहीं रख सकते ? —रख सकते हैं, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। लेकिन कामना-रहित होने की लालसा के स्थान पर कामना-पूर्ति का प्रलोभन ! कामना-पूर्ति का प्रलोभन कामना-रहित-लालसा को शिथिल बनाता है। कामना-रहित होने की लालसा कामना-पूर्ति के प्रलोभन को खा लेती है। अन्तर क्या हुआ ? एक ने तो शिथिल बनाया, खा नहीं पाया, शिथिल बनाया। और दूसरी ने खालिया।

तो विजय किसकी होगी ? जिसने खा लिया उसकी ? या जिसने शिथिल बनाया ? कामना-पूर्ति का प्रलोभन कामना-निवृत्ति की लालसा को खा नहीं सकता, कभी नहीं खा सकता। लेकिन कामना-निवृत्ति की लालसा कामना-पूर्ति के प्रलोभन को खा सकती है। इस दृष्टि से भी यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि भाई, सत्य की लालसा, सत्य की जिज्ञासा के द्वारा भी असत् की कामनायें मिट सकती हैं। असत् की कामना का न रहना ही, सच पूछिये तो, सत् का संग है। सत् के संग में कोई असत् बाधक नहीं है। क्यों ? सत् असत् का प्रकाशक है, सत् असत् का ज्ञाता है, सत् असत् का आधार है। इसलिये सत् असत् का नाश नहीं कर सकता। नाश कौन करता है ? कि सत् की लालसा, सत् की जिज्ञासा। और एक गम्भीर बात सोचिये, कि सत् भी असत् का नाश नहीं कर सकता। न तो असत् सत् का नाश कर सकता है, और न सत् ही असत् का नाश कर सकता है। क्योंकि, सत् जो है वह असत् का प्रकाशक है। जो जिसका प्रकाशक होता है, वह उसका नाश नहीं कर सकता।

तो असत् के नाश करने में हेतु क्या हुआ ? सत् की जिज्ञासा, सत् की लालसा। अब आप ध्यान दें, सत् की जिज्ञासा, सत्य की लालसा-मात्र से असत् की कामना नाश होती है। और असत् की कामना नाश होते ही असत् का दर्शन नहीं होता महाराज ! जिस काल में असत् की सर्वांश में कामना नाश हो जाती है, उस काल में असत् का दर्शन नहीं होता। जब असत् का दर्शन नहीं होता, तब सत् स्वयं अपने आपको प्रकाशित करता है। जब सत्य स्वयं अपने आपको प्रकाशित करता है, तब सत्य से योग, सत्य का बोध, और सत्य में प्रेम स्वतः हो जाता है। और यह क्या है ? —यह है आपका मानव-जीवन।

साधक के द्वारा जो सेवा होती है, उस सेवा से जिसकी सेवा की जाती है, वह तो होजाता है सेवक, और साधक हो जाता है सिद्ध। और एक ऐसी परम्परा फिर चलती है कि वह बराबर सिद्धों को जन्म देती रहती है। सिद्धों की अभिव्यक्ति करती रहती है। इस भावना से मानव-सेवा-सघ का प्रादुर्भाव हुआ है। इसलिये भाई, पहले सेवा करने के लिये ईमानदार सेवक बनने की जरूरत है। और ईमानदार सेवक बिना सत्संग के बन नहीं सकता।

इसलिये आज हमें और आपको सत्संगी होना है, और सत्संगी होने के लिये, चाहे तो आप अपने विवेक के प्रकाश में अपने जाने हुये असत् का त्याग करके स्वयं सत्य के सगी बन जायँ। चाहे परस्पर विचार-विनिमय के द्वारा सत्संगी बन जायँ। चाहे सत्य की तीव्र लालसा के द्वारा असत् की कामनाओं का नाश करके सत् के संगी बन जायँ। जिस क्षण हम और आप सत् के संगी बन जायेंगे, उसी क्षण साधन की अभिव्यक्ति होगी। और साधन की अभिव्यक्ति में ही सिद्धि निहित है। यह निर्विवाद सत्य है।

10.8.87

मूल्य ४-००

५००० सितम्बर ८५

(8 - lelre) ffalb - Rub